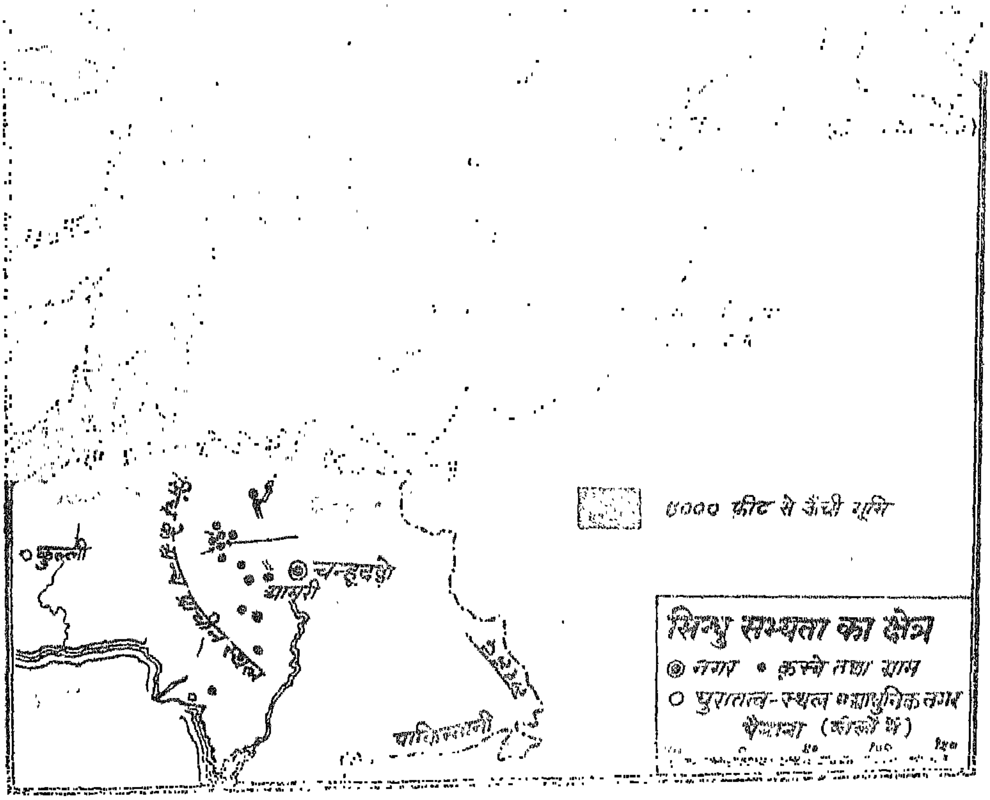
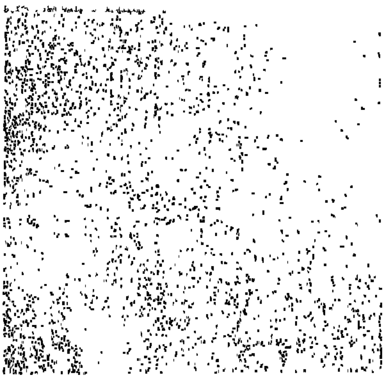
सिंधु-सभ्यता


कुल्ली
चन्हूदड़ो
आमरी
६००० फीट से ऊँची भूमि
सिन्धु सभ्यता का क्षेत्र
नगर
कस्बे तथा ग्राम
पुरातत्व-स्थल आधुनिक नगर

सिंधु-सभ्यता

सतीशचंद्र काला

एम० ए०, अध्यक्ष, प्रयाग संग्रहालय



हिंदुस्तानी एकेडेमी

उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : : २००० : : १९५५
मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक : श्री प्रेमचन्द मेहरा, न्यू हैरा प्रेस, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

आज से लगभग ३० वर्ष पूर्व हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो आदि में जो खुदाइयाँ हुईं, उनसे उपलब्ध जानकारी के परिणाम-स्वरूप भारतीय इतिहास का आदि-काल हजारों वर्ष पीछे चला गया और हमें सिंधु-सभ्यता के रूप में एक विलुप्त सभ्यता की झाँकी मिली। आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व सिंधु-प्रदेश के निवासियों ने सभ्यता के विविध क्षेत्रों में पर्याप्त उन्नति कर ली थी। उनका तत्कालीन अन्य बहुत-सी सभ्यताओं से भी संपर्क था। इसकी अत्यंत रोचक कहानी है।

पिछले कई वर्षों में इस सभ्यता के संबंध में अँगरेजी तथा कुछ यूरोपीय भाषाओं में तो मूल्यवान् साहित्य प्रकाश में आया है, पर हिंदी में इस दृष्टि से बहुत कमी रही है। प्रसन्नता का विषय है कि योग्य लेखक ने प्रस्तुत संक्षिप्त किंतु प्रामाणिक पुस्तक द्वारा हिंदी के एक बड़े अभाव की कुछ अंशों में पूर्ति की है।

कई वर्ष पूर्व कुँवर महेंद्रप्रताप सिंह की स्मृति में कोर्ट ऑव् वार्ड्स ने हिंदुस्तानी एकेडेमी को एक निधि प्रदान की थी। इससे बारह सौ रुपये प्रस्तुत पुस्तक के लेखन एवं प्रकाशन में व्यय किये गये हैं। हम दाताओं के आभारी हैं।

हिंदुस्तानी एकेडेमी,
उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद
नववर्ष-दिवस, १९५९

धीरेंद्र वर्मा
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

दो शब्द

सिंधु-सभ्यता भारतीय इतिहास की आधार-शिला है। १९२२ से लेकर अब तक इस सभ्यता से संबंध रखनेवाले अवशेषों पर अनेक विद्वानों ने अँगरेजी भाषा में पुस्तकें तथा लेख प्रकाशित किये हैं। सिंधु-सभ्यता का क्षेत्र व्यापक था, इसमें संदेह नहीं है। संसार की तत्कालीन सभ्यताओं के साथ भी इसका संपर्क बना रहा।

पिछले ३० वर्षों की खुदाइयों में निकली वस्तुओं के आधार पर इस सभ्यता का अनुसरण करनेवाले लोगों की दिनचर्या तथा धार्मिक मतों पर यथेष्ट प्रकाश पड़ा है। इधर रूपड़ की खुदाइयों ने सिंधु-सभ्यता तथा ऐतिहासिक युग के बीच की शृंखला जोड़ने के लिए सामग्री प्रस्तुत कर दी है।

प्रस्तुत पुस्तक द्वारा सिंधु-सभ्यता का अनुसरण करनेवाले व्यक्तियों के जीवन पर प्रकाश डालने का यत्न किया गया है। आशा है हिंदी भाषा-प्रेमियों को इस पुस्तक के अध्ययन से भारत की एक महान् सभ्यता की झाँकी प्राप्त हो सकेगी।

सतीशचंद्र काला

विषय-सूची

आधार-ग्रंथ

[पददिप्पणियों में प्रयुक्त संकेताक्षर ग्रंथों के नाम के सामने कोष्ठकों में दिये गये हैं]

पुस्तकें

१—मार्शल (सर जान) : मोहें-जो-दड़ो एंड इंडस सिविलिज़ेशन [मो० इं० सि०]

२—मैके (अर्नेस्ट) : फ़र्दर एक्सकावेशन्स ऐट मोहें-जो-दड़ो (फ़० ए० मो०]

३—वत्स (माधवस्वरूप) : एक्सकावेशन्स ऐट हड़प्पा [ए० ह०]

४—मैके (अर्नेस्ट) : चन्हूदड़ो एक्सकावेशंस [च० ए०]

५—दीक्षित (काशिनाथ) : प्रीहिस्टारिक सिविलिज़ेशंस आव् दि इंडस वैली [प्री० सि० इं० वै०]

६—मैके (अर्नेस्ट) : अर्ली इंडस सिविलिज़ेशन [अ० इं० सि०]

७—मेमायर्स आव् दि आर्कियालाजिकल सर्वे आव् इंडिया [आ० स० मे०]

८—आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट [आ० स० रि०]

९—ट्वंटीफ़ाइव इयर्स आव् आर्कियालाजी इन इंडिया [ट्वं० फ़ा० आ० इं०]

१०—पिगट (स्टुअर्ट) : प्रीहिस्टारिक इंडिया [प्री० इ०]

११—पोस्टेज : पर्सनल आब्ज़रवेशंस आन सिंध [प० आ० सि०]

१२—आर्कियालाजी इन इंडिया [आ० इ०]

१३—ऐनुअल रिपोर्ट आर्कियालाजिकल सर्वे आव् इण्डिया [ऐ० रि० आ० स० इ०]

१४—मुकर्जी (राधाकुमुद) : हिंदू सिविलिज़ेशन [हिं० सि०]

१५—एंशेंट इंडिया [एं० इं०]

१६—साहनी (दयाराम) : एक्सकावेशंस ऐट बैराट [ए० ऐ० बै०]

१७—वूली (लियोनार्ड) : डिगिंग आव् दि पास्ट [डि० आ० पा०]

१८—अल्टेकर (अनंत सदाशिव) : पोज़िशन आव् वीमेन इन हिंदू सिविलिज़ेशन [पो० वी० हिं० सि०]

१९—काला (सतीशचंद्र) : टेराकोटा फ़िगरीन्स आव् कौशाम्बी [टे० फ़ि० कौ०]

२०—मजूमदार (ननीगोपाल) : ए गाईड टू दि स्कल्पचर्स इन दि इंडियन म्यूज़ियम कलकत्ता [ए० गा० स्क० इं०]

२१—हंटर (जी० आर०) : स्क्रिप्ट आव् मोहें-जो-दड़ो ऐंड हड़प्पा [स्क्रि० मो० ह०]

२२—ह्वीलर (मार्टिमर) : फ़ाइव थाउज़ैंड इयर्स आव् पाकिस्तान [फ़ा० था० इ० पा०]

२३—मार्शल (जान) : ए गाइड टू साँची (ए० गा० सा०)

२४—बार्थ : रिलिजंस आव् इंडिया [रि० इं०]

२५—कुमारस्वामी (आनंद) : ए हिस्ट्री आव् इंडियन ऐंड इन्डोनिशियन आर्ट [हि० इं० इं० आ०]

२६—गज़ेटियर आव् दि प्राविंस आव् सिंध [ग० प्रा० सिं०]

२७—आप्टे : संस्कृत-इङ्गलिश डिक्शनरी [सं० डि०]

२८—तैत्तिरीयसंहिता [तै० सं०]

२९—मत्स्यपुराण [म० पु०]

पत्रिकाएँ

१—जर्नल आव् दि एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल [ज० ए० सो० बं०]

२—जर्नल इंडियन सोसायटी आव् ओरियंटल आर्ट [ज० इं० सो० ओ० आ०]

३—इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली [इं० हि० क्वा०]

४—माडर्न रिव्यू [मा० रि०]

पहला अध्याय

सिंधु प्रदेश की स्थिति

भारत एक अति प्राचीन देश है। युग-युगों में यहाँ की सभ्यता तथा संस्कृति का विभिन्न रूपों में विकास एवं परिवर्तन होता रहा। ज्ञान की इस तपोभूमि ने अनेक विभूतिजन्य ऋषि-पुत्रों को जन्म दिया। आत्म-दर्शन और मानव-कल्याण उनके दो प्रमुख आदर्श कल्पित हुए। वे निरंतर भविष्यवादी ही बने रहे। भूत में क्या हुआ इसकी ओर उनका ध्यान ही न गया। इसी कारण प्राचीन काल में भारत के इतिहास को शृंखलाबद्ध करने की चेष्टा नहीं की गई। गुरु से शिष्य तक मौखिक संदेश या सूचनाएँ पहुँचती गईं। वेद, पुराण तथा अन्य ग्रंथ इसी मौखिक देन के आधार पर रचे गये। किंतु इन पुस्तकों में कल्पना, नैतिक तथा धार्मिक तत्वों का इतना दृढ़ प्रभाव आ गया है कि वास्तविक सत्य को निकालने में कठिनाई होती है। आज भारत के प्रारंभिक इतिहास की एक-एक कड़ी को शृंखलाबद्ध जोड़ना असंभव हो गया है।

विज्ञान के चमत्कारों ने मनुष्य की तत्वान्वेषण-प्रवृत्ति को नवीन चेतना प्रदान की है। आज दिन सामाजिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में मानव-जीवन का अध्ययन किया जा रहा है। ऐसे अध्ययन की एक प्रधान शाखा पुरातत्त्व (आरकियालौजी) भी है। विश्व-सभ्यता कभी एक निश्चित सीढ़ी पर पहुँचकर नहीं रुकती। आज मनुष्य जिस क्षेत्र में आया है, उस तक पहुँचते-पहुँचते न जाने परिस्थितियों के साथ उसने कितने संघर्ष किये। किन्हीं दिशाओं में वह बहुत ऊँचा उठा। किंतु कहीं-कहीं पर उसे अन्य संस्कृतियों के तत्वों को भी ग्रहण कर अपनी मौलिकता से हटना पड़ा। विश्व में उच्चकोटि की सभ्यताएँ फली-फूली, किंतु प्रकृति के अटल नि म के अनुसार वे कालांतर में अस्त हो गईं। मनुष्य के कंकाल मात्र रह गये। खंडित दीवारें धूल के ढेरों के बीच छिपी और सभ्यताएँ कहानी मात्र बनकर रह गईं। पुरातत्त्व इन्हीं कहानियों को सार्थक रूप देने की चेष्टा करता है।

भारत में पुरातत्त्व विभाग का कार्य अभी एक प्रकार से नवीन ही है। इस विभाग का जन्म १८७० में हुआ था। किंतु आर्थिक अड़चनों के कारण विभाग को कई वर्षों तक स्थायी रूप प्राप्त नहीं हो सका। पिछले १०० वर्षों में इस विभाग ने सीमित साधनों के रहते हुए भी कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। तक्षशिला, पाटलिपुत्र (पटना), बसाढ़ (वैशाली), सारनाथ, राजगीर, सहेत महेत, मीरपुर खास, रूपड़, ब्रह्मगिरि, मथुरा, भीटा, कौशाम्बी, लौरियानंदनगढ़ आदि स्थलों में जो खननकार्य हुआ उससे भारतीय इतिहास के कई अध्याय खुल गये हैं।

१८५६ के लगभग भारतीय सरकार की ओर से कराची को लाहौर से मिलाने का रेल-मार्ग खुला। इस लाइन की पटरी डालने के लिए ईंटों तथा पत्थरों की आवश्यकता पड़ी। अँगरेज़ इंजीनियरों को जब यह पता चला कि पटरी के निकट कई स्थानों में ईंटों से भरे प्राचीन खँडहर पड़े हैं, तो उनकी एक बहुत बड़ी समस्या हल हो गई। उन्होंने इन खंडहरों से सैकड़ों ईंटें निकाल डालीं। ईंटों की सबसे बड़ी खान उन्हें मुलतान ज़िले में हड़प्पा नामक स्थान पर मिली, जहाँ से वे वर्षों तक ईंटें निकालते रहे। १८५३ तथा १८५६ में जनरल कनिंघम हड़प्पा गये। उन्हें वहाँ पर साबुन पत्थर (स्टीटाईट) की कुछ मुद्राएँ मिलीं।[1] उस समय कनिंघम ने अनुमान कर लिया

---

[1] कनिंघम, आ० स० रि०, जिल्द ५, १०५-८

था कि उन मुद्राओं का संबंध भारतीय संस्कृति से नहीं है। किंतु उनकी बात यहीं तक रह गई। इसके बाद भी कई वर्षों तक यह स्थान सुरक्षित नहीं किया जा सका।

१९२२ में पुरातत्त्व विभाग के एक योग्य अधिकारी (अब स्व०) श्री राखालदास बनर्जी, मोहें-जो-दड़ो नामक स्थान पर स्थित बौद्ध स्तूप के चारों ओर खुदाई करवा रहे थे। यह स्तूप जिसकी आयु १५० तथा ३०० ईस्वी के बीच रही होगी, २६६ एकड़ भूमि में एक ऊँचे टीले पर बनाया गया था। इससे लगभग ३० फ़ीट की गहराई पर सबसे पहला प्राकार मूल था। नीचे के स्तर की सब सामग्री हड़प्पा की ही तरह थी। श्रीबनर्जी को तुरत ही ज्ञात हो गया कि स्तूप के निकट की भूमि में एक प्रागैतिहासिक नगर के भग्नावशेष दबे पड़े हैं। उन्होंने तुरत ही पुरातत्त्व विभाग का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। लगभग बारह वर्ष तक इस विभाग के अनेक अधिकारी मोहें-जो-दड़ो नामक स्थान पर खुदाई करवाते रहे। इस पुस्तक के अगले पन्नों में इन खुदाइयों के महत्व पर प्रकाश डाला जा रहा है। उधर १९२० से श्री माधोस्वरूप वत्स तथा दयाराम साहनी के तत्त्वावधान में हड़प्पा में भी खुदाई प्रारंभ हुई। इन दोनों स्थानों ने भारतीय इतिहास की रूपरेखा ही बदल दी। इन खुदाइयों के फलस्वरूप अब संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं के साथ भारत की भी गणना होने लगी है।

हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो के बीच ४०० मील की दूरी है। अतएव यह अनुमान किया गया कि इन दोनों नगरों के बीच बराबर आवागमन रहा होगा। इन नगरों के बीच स्थान-स्थान पर कई छोटी-छोटी बस्तियाँ बसी थीं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रागैतिहासिक युग के अवशेषों की भी ढूँढ़ की गई। श्री ननीगोपाल मजूमदार ने सिंधु प्रदेश की सर्वे प्रारंभ की। उन्होंने खिरथर पहाड़ी के समानांतर बसी कई उजाड़ बस्तियों को ढूँढ़ कर इस बात की पुष्टि की कि दक्षिण में हैदराबाद से लेकर उत्तर में जैकोबाबाद तक किसी युग में छोटे-छोटे नगरों की एक शृंखला वर्तमान थी।[1] श्री मजूमदार १९३९ में एक अन्य ऐसी ही शृंखला की ओर खोज करनेवाले थे, किंतु दुःख का विषय है कि सिंधु प्रदेश के दादू नामक स्थान में जब उनका पड़ाव लगा तो कुछ डाकुओं ने एक रात अकस्मात् श्री मजूमदार को गोली से मार दिया। वे एक मँजे हुए पुरातत्त्वविद् थे और उनके निधन से जो क्षति पुरातत्व विभाग को पहुँची वह आज दिन तक पूरी नहीं हो पाई है।

सर आरियल स्टीन तथा श्री एच० हारग्रीव्ज़, दो अन्य पुरातत्व अधिकारियों ने उधर उत्तरी तथा दक्षिणी बलूचिस्तान में कई प्रागैतिहासिक बस्तियों के चिन्ह ढूँढ़ निकाले।[2] स्टीन सीमित धन तथा अवकाश के कारण किसी भी स्थल पर खुदाई नहीं करवा सके, किंतु उन्होंने नाना प्रकार के ठिकरे प्राप्त किये। श्री हारग्रीव्ज़ ने अवश्य एक क़ब्रस्तान तथा कुछ अन्य स्थानों को खुदवाया। इन खोजों से उत्तरी-पश्चिमी भारत के प्रागैतिहासिक काल में ईरान तथा मेसोपोटेमिया के संबंधों को जानने में बड़ी सहायता मिली।

१९२५ में अमेरिकन स्कूल ऑव् इंडिक स्टडीज़ से सहायता प्राप्त होने पर श्री अर्नेस्ट मैके ने मोहें-जो-दड़ो से ८० मील दक्षिण-पूर्व में स्थित, चन्हूदड़ो नामक स्थान पर खुदाई की। इस स्थान पर बड़े सुचारु रूप से कार्य प्रारंभ किया गया। इस स्थान की खुदाई से यह पता चला कि मोहें-जो-दड़ो-संस्कृति की समाप्ति के पश्चात् भी एक और भिन्न संस्कृति के लोग उसी स्थान पर बसे।[3] सन् १९४६ में डा० मौर्टिमर ह्वीलर ने हड़प्पा में खुदाइयाँ कीं।[4]

[1] आ० स० मे०, नं० ४८ [2] (अ) वही, नं० ३७ (ब) वही, नं० ३५
[3] मैके, च० य० [4] एं० इं०, नं० ३

श्री पिगट के अनुसार सिंधु सभ्यता (जिसको वे प्राय: हड़प्पा संस्कृति कहते हैं[1]) के अवशेष ९५० × ७०० × ५५० मील के एक अव्यवस्थित त्रिकोण के भीतर फैले हैं। इनमें नगर, क़सबे तथा गाँव सभी सम्मिलित हैं। संभवत: मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा किसी युग में दो अलग-अलग राजधानियाँ थीं। इन नगरों के वास्तविक नाम लुप्त हो गये हैं। सिंधी भाषा में "मोहें-जो-डेरो" का अर्थ तो "मरे हुओं का टीला" है। "हड़प्पा" शब्द की उत्पत्ति के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा नगर क्रमश: सिंधु नदी के दाएँ तथा रावी के बाएँ तट पर स्थित थे। स्मरण रहे कि प्राचीन काल के सभी नगर जल-मार्ग तथा जल की अन्य सुविधाओं के कारण, नदियों के ही तट पर बने थे। नील, फ़रात, गंगा, यमुना आदि नदियाँ तो कई सभ्यताओं के साथ अमरत्व प्राप्त कर चुकी हैं। आकार में इस समय मोहें-जो-दड़ो से हड़प्पा अधिक बड़ा लगता है। ऐतिहासिक युग में इन स्थानों पर फिर कोई नगर स्थापित नहीं हो सका। केवल ईसा की दूसरी या तीसरी सदी में मोहें-जो-दड़ो में एक टीले पर बौद्ध-स्तूप बना। मोहें-जो-दड़ो में जो अवशेष प्राप्त हुए हैं वे भारत के अन्य अवशेषों से अधिक दृढ़ तथा सुरक्षित हैं। इसका कारण संभवत: उनका बालू के अंदर दबा रह जाना है। इन अवशेषों को देखने से तुरंत पता चल जाता है कि मोहें-जो-दड़ो की नगर-निर्माण प्रणाली मिश्र तथा सुमेर आदि देशों से उच्चतर थी।[2] यह नगर संपन्न था और नागरिक जीवन को सुकर एवं सुखी बनाने के सभी साधन यहाँ प्रस्तुत थे। इसका स्वास्थ्य विभाग किसी व्यवस्थित शासन के द्वारा ही संचालित होता रहा होगा। आज समस्त सिंधु प्रदेश में नहरों का एक जाल बिछा दिया गया है। किंतु प्राचीन काल में इसकी स्थिति आज से कहीं भिन्न थी। सैकड़ों वर्ष पूर्व यहाँ प्रचुर मात्रा में जल बरसता था। इसकी पुष्टि में अनेक प्रमाण वर्त्तमान हैं। पंजाब में अब भी बहुत गेहूँ उगाया जाता है। किंतु सिंधु प्रदेश एक प्रकार का रेगिस्तान बन गया है। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में सर्वत्र मिट्टी की पकाई ईंटों का प्रयोग हुआ है। इससे यह स्पष्ट है कि सिंधु प्रदेश में कभी अच्छे जंगल थे, जहाँ से कि ईंटों को पकाने के लिए लकड़ी तथा कोयला उपलब्ध हो जाया करता था। नम जलवायु में विचरण करने-वाले पशु, जैसे गैंडा, भैंस, हाथी, व्याघ्र आदि पशुओं का चित्रण यत्र-तत्र मुद्राओं या ताबीज़ों पर मिलता है। इनमें बहुत से पशुओं की तो हड्डियाँ तक प्राप्त हुई हैं। वर्त्तमान काल में सिंधु प्रदेश में कहीं-कहीं व्याघ्र तो दीख पड़ता है किंतु अन्य पशु वहाँ अब नहीं रहते। जली लकड़ी के अवशेष भी कई कमरों में मिले हैं। पत्तियों तथा वृक्षों का मिट्टी के बरतनों तथा मुद्राओं पर विशेष अंकन होने से भी ज्ञात होता है कि सिंधु प्रदेश कभी एक हरा-भरा देश था। यह भी कहा जा सकता है कि यदि सिंधु प्रदेश उपजाऊ नहीं होता तो मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा अन्य छोटे नगरों को भोजन के लिए अन्न-प्राप्ति के विशेष साधन ढूँढ़ने पड़ते।

यदि सिंधु प्रदेश में वर्षा की कमी होती तो संभवत: वहाँ के निवासी कच्ची ईंटों का ही अधिकतर प्रयोग करते। इनके प्रयोग का एक अन्य लाभ यह भी था कि वे कमरों को ठंडा रख सकती थीं। किंतु उस काल में सिंधु प्रांत इतना गरम नहीं था, जितना कि वह आजकल है।

ईसा पूर्व चौथी सदी में अलेग्ज़ेंडर भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रदेश में आ पहुँचा। इस यवन वीर तथा उसकी सेनाओं ने सिंधु उपत्यका में हरे-भरे लहराते खेतों को देखा था। अरब तथा मुसलमान पर्यटकों ने भी समय समय पर इस प्रदेश में वर्षा का होना लिखा है। १८वीं सदी

[1] पिगट, प्री० इं०, पृ० १३ [2] दीक्षित, प्रई० फा० आ० इं, पृ० २

में डेविड रौस नामक एक पर्यटक ने लिखा था "सिंधु प्रांत में कभी वर्षा नहीं होती। कभी-कभी लगातार महीनों तक वर्षा का एक बूँद तक वहाँ नहीं टपकता।" वेस्टमैकाट नामक एक दूसरे अंग्रेज़ ने भी एक स्थान पर इस बात का उल्लेख किया है कि एक बार बीस वर्ष तक सिंधु प्रदेश में वर्षा नहीं हुई। आज इस प्रदेश का जलवायु विचित्र हो गया है। ग्रीष्म ऋतु में यहाँ का तापक्रम १२०° तक पहुँच जाता है। शीत ऋतु में यह ५०-६० डिग्री से ऊपर नहीं चढ़ता। वर्षा तो वर्ष में ६ इंच तक ही हो पाती है।

इस जलवायु-परिवर्तन के कई कारण बतलाये गये हैं। एक वर्ग की धारणा है कि हिम-युग तथा पूर्ववर्ती युग में उत्तर वेगानिल कटि आर्कटिक के दबाव से दक्षिण की ओर हट गई। इस धारणा के अनुसार सहारा, मिश्र, अरब, फारस, बलूचिस्तान तथा सिंध प्रदेश में एक समय घोर वर्षा होती थी। सर जान मार्शल का विचार है कि जलवाहिनी हवाओं की गति में परिवर्तन होने से ही सिंधु प्रांत ऊसर हो गया। उनके अनुसार इन हवाओं का दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र पूर्व की ओर खिसक गया है। मौसमी हवाओं के रुख में आज दिन भी विचित्रता दीख पड़ती है। दो वार्षिक हवाओं में एक तो कच्छ में लखपत तक ही रुक जाती है, दूसरी उत्तर-पूर्वी हवा कराची से आगे नहीं बढ़ पाती। जलवायु-परिवर्तन के जो कुछ भी कारण हों, किंतु इसमें संदेह नहीं कि जब सिंधु सभ्यता का बोल-बाला था उस समय हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो के भूमिखंड में अच्छी वर्षा होती थी।

अब हम सिंधु प्रदेश की नदियों के बहाव पर कुछ प्रकाश डालेंगे। इस प्रदेश में आने-वाली सभी नदियाँ बर्फ़ानी पहाड़ियों से निकलती हैं। ग्रीष्म ऋतु के आगमन पर बर्फ का गलना प्रारंभ हो जाता है। स्वभावतः नदियों में पानी भर आता है जो कि मैदानों में पहुँचकर बाढ़ का रूप धारण कर लेता है। कभी-कभी यदि वर्षा अधिक हुई तब भी बाढ़ों का आतंक हो जाता होगा। शीत ऋतु में आज भी पानी के कम होने पर ढेरों मिट्टी पुलिन के दोनों ओर फैल जाया करती है। मोहें-जो-दड़ो नगर की विभिन्न तहों से ज्ञात होता है कि यहाँ बाढ़ के दो बार प्रकोप हुए थे और दो ही बार यह फिर से बसाया गया था। एक बार बाढ़ तब आई जब यह नगर सभ्यता की उच्च सीढ़ी पर था। दूसरा प्रकोप तब हुआ जब कि नगर का ऐश्वर्य तथा उसकी सभ्यता अवनति की ओर ढल रही थी। इन बाढ़ों में सम्पूर्ण नगर पानी के अंदर नहीं दब पाता था। पुरानी तहों पर एक के बाद एक मकान को बनाने के कारण वे वास्तविक भूमि से अनायास ही ऊपर उठ गये। जब बाढ़ आती थी तो मकान आधे पानी में डूब जाते थे। नगर के चारों ओर मीलों तक पानी भर जाता था, जिससे कि आने-जाने में बड़ी असुविधा होती थी। छोटी-छोटी बाढ़ों के आने पर लोग मकानों को अल्प काल के लिए छोड़ देते थे। लेकिन गहरी बाढ़ के आने पर तो विवश होकर लोगों को लंबे अर्से तक नगरों को छोड़ना पड़ता था। इन बाढ़ों से बचने के लिए लोगों ने कई मकानों के नीचे ऊँची कुर्सियाँ बना डाली थीं। अनेक प्रमाण ऐसे भी हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि नदियाँ अपना प्रवाह बराबर बदलती जा रही हैं। प्राचीन नदियों के पुलिन आज दिन भी मुलतान के पश्चिम में दीख पड़ते हैं। यूनानी लोगों ने भी ईसा पूर्व चौथी सदी में नदियों के परिवर्तन पर कुछ प्रकाश डाला था। एक बार अलेग्ज़ेंडर ने अरिस्टोबोलस को सिंध-पंजाब क्षेत्र में एक कमीशन के साथ भेजा। मार्ग में उसे एक सहस्र से ऊपर गाँवों तथा नगरों के भग्नावशेष दीख पड़े। पूछताछ करने पर उसे पता चला कि सिंधु नदी के बहाव में परिवर्तन होने के कारण ये नगर उजाड़ हो गये थे।[1]

[1] स्ट्रैबो, १५ (सी) ६६४

बर्नेज, नामक एक यात्री १८३४ में आम्री आया था। एक स्थल पर उसने लिखा है- " आम्री एक समृद्धिशाली नगर है। प्राचीन काल में यह एक राजधानी था, किंतु सिंधु नदी ने इसे तहस-नहस कर डाला।" सर्वे विभाग के एक अन्य अधिकारी ने लिखा था—"सिंधु नदी इतनी शीघ्रता के साथ अपनी गति बदलती है कि उसका वर्णन करना कठिन है। ईंटों की एक छोटी-सी दीवार सिंधु नदी के पुलिन में खड़ी कर देने से सरलता के साथ एक नहर फूट पड़ती है। यह नदी विशाल राजधानी तथा क़सबों को नष्ट कर सकती है। हरे-भरे उद्यानों को चंद क्षणों में रेगिस्तान तथा रेगिस्तानों को सुंदर उद्यानों में भी वह परिवर्तित कर सकती है।"[1]

एक बार सिंधु नदी के तट पर मोहें-जो-दड़ो नगर बसा था। किंतु आज यह नदी इस नगर के भग्नावशेषों से लगभग ३½ मील की दूरी पर बहती है। इसी प्रकार चन्हूदड़ो के अवशेष भी सिंधु नदी से १२ मील दूर हट गए हैं। चन्हूदड़ो से ३ मील की दूरी पर अभी भी एक पुलिन दीख पड़ता है। संभव है इसी नदी की विभिन्न शाखाओं से चन्हूदड़ो नगर को क्षति पहुँचती रही हो। बाढ़ आने पर इस नगर के निवासी लंबे समय के लिए बाहर चले जाते थे। इस बीच मकान गिर जाते थे और उनके ऊपर धूल मिट्टी आदि जमा हो जाती थी। चन्हूदड़ो के प्रायः सभी मकानों की नींव इसी धूल की तह पर रक्खी गई है। दूसरी ओर मोहें-जो-दड़ो में मकानों की पुरानी दीवारों के ही ऊपर नई दीवारें चढ़ाई गईं। लोहम-जू-दड़ो, चन्हूदड़ो तथा मोहें-जो-दड़ो नामक प्राचीन स्थानों से जो मिट्टी के बर्तन मिले हैं, उनकी परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ है कि उनमें बालू के कण मिश्रित हैं। हड़प्पा का विनाश बहुत कुछ रावी के पुलिन में परिवर्त्तन होने के कारण हुआ। इस नगर की रक्षा के लिए पश्चिम की ओर एक बाँध बना था। वर्त्तमान काल में रावी हड़प्पा से छः मील उत्तर की ओर बहती है। जहाँ पर हड़प्पा गाँव बसा हुआ है, वहाँ की भूमि तनिक भी उपजाऊ नहीं है।

बाढ़, वर्षा तथा नदियों के बहाव में परिवर्त्तन होना ही मोहें-जो-दड़ो के नष्ट होने के कारण नहीं हैं। समय-समय पर अन्य दैवी घटनाएँ भी इस क्षेत्र को पीड़ित करती रहीं। भूकंप तथा तूफ़ानी हवाओं ने सिंधु प्रदेश के निवासियों को बड़ी हानि पहुँचाई। भूकंपों के कई चिह्न बलूचिस्तान में भी मिले हैं।[2] इनसे प्रायः नदियों के पुलिन भी बदल जाते थे। १६१६ में कच्छ की खाड़ी में भूकंपों द्वारा बड़े परिवर्त्तन हुए। सिंधु प्रदेश में कभी-कभी असाधारण वर्षा भी हो जाती है। १६०२ में करान्ची में २४ घण्टे के अंदर १२ इंच पानी बरसा।

मोहें-जो-दड़ो, नगर सिंधु नदी तथा नार नामक एक नहर के बीच स्थित भूमिखंड में बसा था। आजकल भी यह नगर बाढ़ के आतंकों से अछूता नहीं है। इस नगर के अवशेषों की रक्षा के लिए एक बाँध फिर से बना दिया गया है। प्रागैतिहासिक युग में भी मोहें-जो-दड़ो की रक्षा के लिए एक बाँध बना था। इसके चिन्ह अभी तक एक मील तक फैले दीख पड़ते हैं।[3] किंतु जान पड़ता है कि इस बाँध की सिंधु नदी की भयंकर बौछारों से कुछ नहीं चल पाई। इसको तोड़कर वह प्रायः नगर तक पहुँच जाती थी।

प्रकृति के इन निरंतर प्रहारों ने ही मोहें-जो-दड़ो निवासियों को इस नगर को छोड़ने के लिए बाध्य किया होगा। किंतु फिर भी वे इस नदी की विशिष्ट देन को नहीं भूल सके। निरंतर बह कर आनेवाली पुलिनमय मिट्टी खेती के लिए बड़ी उपयुक्त थी। सिंधु नदी की संपूर्ण लंबाई घुमावों सहित लगभग ५८० मील है जिससे कि इसके बाएँ-दाएँ तट पर प्रतिवर्ष मनों मिट्टी

[1] वर्टन, सिंदे, जिल्द १, पृ० २०२ [2] आ० स० मै०, नं० ४०, पृ० ३३, १३२, १८६
[3] पिगट, प्री० इं०, पृ० १५८

पहुँच जाती थी। स्थायी पुलिन न होने के कारण इसके तट पर कोई नगर पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाये। किंतु जितने समय तक टिके वे यश तथा समृद्धि का शांतिपूर्वक भोग करते रहे।

१८४३ में पोस्टैंज नामक एक पर्यटक ने सिंधु प्रदेश की गतिविधि का उल्लेख करते हुए कहा था—"इस प्रांत का भूगोल विचित्र है। कभी औद्योगिक केंद्र का दावा रखनेवाले नगर आज व्यापार के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हो गए हैं। अन्य सुविधाएँ भी जाती रही हैं। व्यापार के प्रमुख बंदरगाह भी नष्ट हो चुके हैं। जहाँ लहलहाते हरे-भरे खेत थे, वहाँ आज रेगिस्तान दीख पड़ते हैं। सिंधु प्रदेश के आरामपसंद निवासी नदियों के तटों पर रहना चाहते हैं। किंतु बाढ़ आने पर गाँव के गाँव बह जाते हैं। सुनसान रात्रि में सिंधु नदी के कगारों के गिरने से ऐसा शब्द होता है मानों कहीं दूर कोई आग्नेय अस्त्रों का प्रयोग कर रहा हो।"[१]

---

[१] पोस्टैंज, प० आ० आ० सिं०, पृ० १६

दूसरा अध्याय

सिंधु-सभ्यता के निर्माता

विज्ञान के आधार पर मानव सभ्यता को कई युगों में बाँटा गया है। प्रारंभिक युग में मनुष्य तथा पशु में यही भेद था कि मनुष्य की एक विशिष्ट सूझ तथा समझ थी। मांस, कंद-मूल तथा फल ही उसके भोज्य पदार्थ थे। इनकी प्राप्ति के लिए उसने पत्थर के हथियार बनाए। ई० पू० ७००० के लगभग उसने अनाज को ढूँढ़ निकाला तथा ई० पू० ४००० में उसे धातुओं का ज्ञान हुआ। भारत में जीवन के इस द्वंद्व की बड़ी रोचक कहानी है। इस दिशा में अभी नाम मात्र के लिए ही कार्य हुआ है।[1]

विद्वानों ने उपलब्ध सामग्री के आधार पर मोहें-जो-दड़ो की सभ्यता को "नवीन-प्रस्तर-ताम्रयुग" नाम दिया है। इस सभ्यता के अंतर्गत मनुष्य पत्थर के हथियारों के साथ-साथ पीतल तथा ताँबे की वस्तुओं का प्रयोग करते थे। घुमक्कड़ जीवन का अंत हो गया था। मनुष्य छोटे-छोटे गाँवों में जिनमें पत्थर तथा मिट्टी के मकान थे, रहने लगे थे। इस परिवर्तन की सुंदर झाँकी बलूचिस्तान की पहाड़ियों तथा सिंधु नदी के निचले भाग में स्थित अवशेषों में मिलती है। "नवीन प्रस्तर ताम्रयुग" की सभ्यता के अंतर्गत होते हुए भी सिंधु सभ्यता ने अनेक दिशाओं में विशेषता दिखलाई। इस प्रांत के निवासियों को सूत तथा कपड़े का ज्ञान था और यहाँ के नगरों की रूपरेखा इसी सभ्यता के समकालीन अन्य देशों से कहीं उच्चतर थी।

इस नगर की समृद्धि किस काल में थी और कौन इसके मूल जन्मदाता थे, यह प्रश्न विचारणीय है। यह निर्विवाद है कि ई० पू० २५०० में सिंधु सभ्यता नागरिक सभ्यता की चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। इसका विस्तार सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा तक ही नहीं था। इस संस्कृति के चिह्न पूर्व में रूपड़[2] तथा दक्षिण में काठियावाड़ के रंगपुर[3] नामक स्थान तक मिले हैं। सर जॉन मार्शल का तो कहना है कि यह संस्कृति गंगा, यमुना, नर्बदा तथा ताप्ती की घाटी तक पहुँची थी। उधर बलूचिस्तान की ओर भी परिवर्तित रूप में कुछ ऐसी ही शृंखलाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

मोहें-जो-दड़ो में इमारतों की नौ तहें निकली हैं। इन इमारतों की दीवारें केवल सबसे ऊपर की दीवार को छोड़कर, प्रायः एक ही ढंग की हैं। बर्तन, मुद्राओं तथा अन्य वस्तुओं में भी कोई विशेष अंतर नहीं दीख पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नगर में बाढ़ों के आतंक जल्दी-जल्दी होते रहे। यहाँ के निवासी अल्प काल ही के लिए घरों को छोड़ते थे। किसी दूसरे स्थान पर स्थायी रूप से बसने का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। इसलिए संभव है उसी क्षेत्र तथा वातावरण में विचरण करने के कारण उनके जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया। मुद्राओं की लिखावट जिसमें कि तुरंत परिवर्तन हो जाता है, नीचे की तह से लेकर ऊपर तक एक समान है। मार्शल ने मोहें-जो-दड़ो नगर का काल ५०० वर्ष माना है।[4] मि० पिगट

---

[1] आ० इं०, पृ० १७-२० [2] स्तत्र, य० इं०, जि०, १ पृ० ३७६-७ [3] ए० रि० आ० स० इं०, १९३४-५, पृ० ३४-८ [4] मार्शल, मो० इं० सि०, जि० १, १०३

कहते हैं कि इस नगर का निर्माण एवं पुनर्निर्माण लगभग ७०० वर्षों तक चलता रहा।[1] हड़प्पा में मकानों की कुल छः तहें निकली हैं। यहाँ भी सभ्यता अपने पुष्ट रूप में मिलती है। एक बार उजड़ जाने पर मोहें-जो-दड़ो में फिर कोई नगर नहीं बसा। एक विदेशी जाति ने जो कि चमकीली लाल मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग करती थी और जिसकी क़ब्रें भी मिली हैं, हड़प्पा नगर के खँडहरों के ऊपर फिर एक नवीन नगर बसाया। इस प्रकार चन्हूदड़ो में भी पूर्व सिंधु सभ्यता के अवशेष मिले हैं। झुकार तथा झंगार के बर्त्तन निश्चय ही सिंधु सभ्यता की समाप्ति के बाद बने थे।

मैके ने मोहें-जो-दड़ो नगर के काल को तीन युगों में विभाजित किया है :—

प्रारंभिक युग	ई० पू० ३२५०
मध्य युग	ई० पू० ३०००
अंतिम युग	ई० पू० २७५०

उर तथा किश में भारतीय ढंग की कई मुद्राएँ तथा तावीज़ १९२२-२५ की खुदाइयों में मिली थीं। परन्तु इनका कोई निश्चित काल नहीं आँका जा सका था। कुछ समय पश्चात् डा० फ्रैंकफ़ोर्ट को टेल आस्मर में एक भारतीय मुद्रा मिली। यह मुद्रा जिस तह में मिली उसकी निश्चित आयु ई० पू० २४०० है। अन्य वस्तुओं के आधार पर भी कहा जा सकता है कि उर आदि देशों में कुछ भारतीय व्यापारी ई० पू० २४००-२३०० के लगभग रहते थे। इसके प्रमाण में वे मुद्राएँ हैं जो पश्चिमी देशों में मिली हैं और जिनका प्रयोग व्यापारिक वस्तुओं के लिए होता था। सुमेर में प्राप्त एक मुद्रा के पीछे तो किसी कपड़े के चिह्न हैं जिससे ज्ञात होता है कि वह किसी बंडल पर बँधी थी। सिंधु सभ्यता ई० पू० २५०० में चरम सीमा पर थी इसका प्रमाण कई बातों से मिलता है।

सिंधु सभ्यता के जन्मदाता तथा उपभोग करनेवाले किस जाति के लोग थे यह बतलाना अति कठिन है। इस संबंध में हमारे पास केवल दो सूत्र हैं : (१) अस्थिपंजर तथा (२) मूर्त्तियाँ। अब तक मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो में ५० अस्थिपंजर मिले हैं। हड़प्पा के समृद्धिशाली युग की ६० क़ब्रें मिली हैं, किंतु इनकी समुचित परीक्षा अभी तक नहीं हो पाई है। मानव-विज्ञान विद्या के आधार पर इन अस्थिपंजरों से निम्नलिखित ४ जातियों का पता चला है :—

१. काकेशियाई या प्रोतो-आस्ट्रेलियाई
२. भूमध्यसागर-तटवर्ती
३. मंगोलियाई
४. आल्पस-जातीय

प्रोतो-आस्ट्रेलियाई समूह के तीन सिर मोहें-जो-दड़ों में प्राप्त हुए हैं। ये संभवतः इस नगर के मूल निवासी थे। इनकी उत्पत्ति पैलेस्टाइन में हुई थी और इस जाति के लोग पश्चिम तथा पूर्व की ओर फैले थे। आज भी अरब देश में यह जाति अपनी शुद्धता को बनाए रक्खे है। इसी जाति के अंतर्गत उत्तर भारत की अधिकतर जातियाँ भी हैं। रंग, रूप तथा आकार में यह जाति लंका के वेड्डा लोगों की ही तरह है। एक चूने के पत्थर में अंकित मूर्त्ति भी इसी जाति के किसी व्यक्ति की जान पड़ती है।

भूमध्यसागर तटवर्ती वे लोग थे जिनका सिर ऊँचा होता है। यह जाति समस्त पश्चिम एशिया में व्याप्त है और ऐसा ज्ञात होता है कि इस जाति के लोगों ने नागरिक जीवन की नींव

[1] पिगट, प्री० इं०, पृ० १३३

डालने का भी यत्न किया था।[1] मोहें-जो-दड़ो में सबसे अधिक अस्थिपंजर इसी जाति के लोगों के प्राप्त हुए हैं। स्मरण रहे कि मोहें-जो-दड़ो तथा अल उबेद से प्राप्त खोपड़ियों में समानता है। ई० पू० ४००० में यह जाति सभ्यता के उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी।

मोहें-जो-दड़ो में मंगोलियाई जाति के किसी व्यक्ति की एक खोपड़ी भी मिली है। इसके अतिरिक्त कुछ मृण्मूर्तियों के हाव-भाव भी मंगोलियन से लगते हैं। ये मूर्तियाँ निम्नतर तह पर निकली हैं। यह संभव है कि इस जाति के लोगों का सिंधु प्रदेश में प्रवेश ईरान के पठार से हुआ हो।[2] आल्प्स जाति के किसी पुरुष की एक खोपड़ी भी मोहें-जो-दड़ो में मिली है। ये लोग शायद पामीर के पठार से आये थे।

इन खोपड़ियों के संबंध में मानव-विज्ञान के विशेषज्ञ श्री० बी० यस० गुह लिखते हैं कि प्रस्तर ताम्र युग में सिंधु नदी की घाटी में छोटे कद, लंबे सिर, पतली तथा ऊँची नाक और लंबे चेहरे के व्यक्ति रहते थे, किंतु ये बलवान् नहीं थे। इसके अतिरिक्त लंबे चेहरेवाली एक और जाति थी। इस जाति के लोग कद में विशेष लंबे थे। तीसरी जाति के लोगों के सिर चौड़े तथा नाक पैनी होती थी। इनके सिर का पृष्ठ भाग कभी गोल तथा कभी चिपटा रहता था। ये तीनों जातियाँ अल उबेद तथा किश में रहती थीं। इससे जान पड़ता है कि प्रस्तर ताम्र युग में मेसोपोटेमिया (विशेषकर प्रीसारगोनिद युग) तथा सिंधु प्रदेश की जातियों में जातिगत संबंध था।[3]

सिंधु सभ्यता के अवसान पर बाहर से कुछ अन्य जातियाँ सिंधु प्रांत तथा हड़प्पा में पहुँची थीं। इनकी सभ्यता नागरिक नहीं थी। तीन स्थानों के खंडहरों के ऊपर इन लोगों ने अपने निवास स्थान स्थापित किये। मोहें-जो-दड़ो के खंडहरों के ऊपर कोई मकान फिर नहीं बने। परंतु उजाड़ चन्हूदड़ो तथा हड़प्पा में बाद में कुछ लोग बाहर से आकर बस गये थे। ये लोग कौन थे, कैसे और किस युग में यहाँ पहुँचे यह बतलाना कठिन है। अनुमान किया जाता है कि ये लोग ईरान-तुर्किस्तान की ओर से ई० पू० १५०० के समीप पहुँचे। खुदाई से ज्ञात हुआ है कि सिंधु सभ्यता का अंतिम युग शांतिमय नहीं था।

इधर-उधर फ़र्शों तथा सीढ़ियों पर कई अस्थिपंजर मिले हैं जिससे ज्ञात होता है कि ये लोग धावे में हत हुए थे। फ़र्शों के नीचे भी गहने मिले हैं, जिन्हें लोगों ने सुरक्षित रखने के लिए गाड़ दिया था। हड़प्पा की क़ब्रों से भी पुष्टि हुई है कि वे बाहर से आये हुए लोगों की क़ब्रें थीं। इस नगर की किलेबंदी भी बाद में की गई थी। उधर बलूचिस्तान में भी कई नगरों के जलाए जाने के उदाहरण मिले हैं। इन सब प्रमाणों से प्रत्यक्ष है कि सिंधु सभ्यता के अस्त-काल में बाहरी देशों से क्रूर तथा बर्बर जातियों ने प्रवेश किया और इसके बचे-खुचे चिह्नों तथा संस्कृति की शृंखलाओं को छिन्न-भिन्न कर डाला।

सिंधु प्रदेश में बाहर से आने के रास्ते जल तथा थल दोनों मार्गों से थे। मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो की सभ्यता मिश्रित तत्वों के समन्वय से बनी होगी। पश्चिमी एशिया के साथ इन नगरों का संबंध स्थापित हो चुका था। इनकी जन-संख्या भारत के वर्त्तमान प्रधान नगर कलकत्ता, बम्बई तथा दिल्ली ही की तरह विश्वजनीन रही होगी। जीवन के सुलभ साधन, व्यापार की सुविधाएँ तथा शांतिमय वातावरण के कारण सिंधु-सभ्यता की निरंतर उन्नति होती गई। संसार

[1] मुकर्जी, हिं० सि०, पृ० ३२ [2] मैके, अ० इं० सि०, पृ० १२४ [3] ऐ० आ० पी० सा० इं०, पृ० १२७

में कोई वस्तु चिरस्थायी नहीं। सिंधु सभ्यता का प्रारंभ कब से हुआ इसका अनुमान लगाना अति कठिन है। अभी तक खंडहरों की निम्नतम सतह तक पुरातत्व पंडित नहीं पहुँच पाये हैं। हम इसके प्रारंभ को निश्चयपूर्वक नहीं जानते परंतु इसके अंत के बारे में हमें कुछ ठोस जानकारी अवश्य हो गई है। ऊपर अभी लिखा जा चुका है कि सिंधु-सभ्यता ई० पू० २००० तथा १५०० के बीच अस्त हो चुकी थी। इसका बहुत कुछ कारण बाहरी धावे थे। अब प्रश्न यह उठता है कि कौन सी जाति के लोगों ने यहाँ धावा किया था। अंतिम युगों में सिंधु-सभ्यता के बहुत से नगरों में रक्षा के लिए क़िलेबंदी कर दी गई थी। कुछ विद्वानों के अनुसार उस समय इन नगरों में ऋग्वेद में वर्णित 'दस्यु' या 'दास' जाति के लोग रहने लगे थे। ये लोग भगवान् इंद्र के विरोधी थे, किंतु लिंग की पूजा करते थे। इनके नगर भी क़िलेबंदी से सुरक्षित थे। डा० मौर्टिमर ह्वीलर का अनुमान है कि हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो में ई० पू० २००० के लगभग रहनेवाले लोग ऋग्वेद में वर्णित 'दस्यु' या 'दास' वर्ग में से ही थे। इनकी सभ्यता उच्च थी, किंतु वह आर्य सभ्यता से सर्वथा भिन्न थी। 'दस्यु' लोगों के दुर्गों का नाश इंद्र के उपासक 'आर्यों' ने किया था।[1] पहले यह विचार था कि 'दस्यु' लोगों के दुर्ग केवल कल्पित हैं। किंतु मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा के अवशेषों ने इस धारणा का खंडन कर यह प्रमाणित कर दिया है कि इन स्थानों में एक प्रकार का दुर्ग-शासन वर्तमान था।

[1] एं० इं०, नं० १, पृ० ८-२६

तीसरा अध्याय

प्रतिदिन के व्यवहार की वस्तुएँ

किसी नगर की संपदा, उसकी स्थिति तथा प्राकृतिक सुविधाओं के ऊपर ही प्रायः निर्भर होती है। मनुष्य की सर्वप्रथम माँग उर्वरा भूमि तथा जल है। यह स्वाभाविक है कि सिंधु सभ्यता के सभी नगर जल तथा भूमि की सुविधाओं के दृष्टिकोण से स्थापित किये गये थे। हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो में खुदाई से जला गेहूँ प्राप्त हुआ है। इस गेहूँ के दाने काफ़ी बड़े होते थे और यह उसी वर्ग का अनाज था जैसा आज दिन भी पंजाब में उगाया जाता है। जौ के अवशेष भी मिले हैं, किंतु इस तरह का जौ अब पंजाब में कहीं नहीं मिलता है। चावल भी प्रचुर मात्रा में उत्पन्न किया जाता था। संभवतः यह उसी आकार का था जैसा अब भी लड़काना ज़िले में उगाया जाता है। अनाज को संग्रह करने का भी प्रयत्न होता था। दैनिक व्यय से अतिरिक्त अन्न का विशेष संग्रह संभवतः सरकार की ओर से किया जाता था। आजकल के खाद्य विभाग की वितरण-नीति की तरह कोई प्रणाली सिंधु प्रदेश के नगरों में भी लागू रही होगी। आगे हम देखेंगे कि मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में कई विशाल अन्न-भंडार बनाये गये थे।

खाद्य सामग्री में लोग जौ, राई, फलियाँ, खजूर, तिल तथा तरबूज़ का भी प्रयोग करते थे। खजूर के बीज वस्तुतः हड़प्पा में नहीं मिले हैं, किंतु इनका चित्रण वहाँ के मिट्टी के बरतनों पर दीख पड़ता है। यदि खजूर वहाँ न उगता तो कैसे लोग इसके बीजों की जानकारी कर पाते। एक आभूषण (झुमका) भी लम्बे नींबू की आकृति का है इससे ज्ञात होता है कि हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो में खट्टे रस के फलों की उपज भी होती थी। इसी तरह एक खंडित मिट्टी के बरतन पर भी जो कई रंगों से चित्रित है, नारियल तथा अनार जैसे फलों का अंकन है। फलों की गुठलियाँ अधिक काल तक सुरक्षित नहीं रह सकती हैं। इसी कारण ये खुदाई में प्राप्त नहीं हुईं। सिंधु सभ्यता के नगरों में ही कई प्रकार के फलों की खेती होती रही होगी; किंतु बाहरी देशों से व्यापार के रूप में भी फल आदि आते-जाते रहे होंगे।

पालतू पशुओं के दूध का भी प्रयोग किया जाता रहा होगा। घी, मक्खन तथा अन्य पौष्टिक पदार्थों की ओर लोगों की रुचि रही होगी स्वाभाविक ही है। खेतों में तरकारी उगाई जाती थी। तरकारी तथा मसालों को रखने की विभिन्न आकारों की तश्तरियाँ मिली हैं।

अनाज या तो बड़ी चक्कियों से पीसा जाता था या आजकल के गाँवों की तरह ओखली में कूटने की कोई प्रथा लोगों को ज्ञात रही होगी। खुदाई में पत्थर की ओखलियाँ तथा पीसने की पट्टियाँ भी मिली हैं। अनाज रखने के लिए प्रायः बड़े-बड़े घड़े रखे जाते थे। ये घड़े खंडित अवस्था में ही अधिकतर पाये गये हैं। जिन घड़ों की ऊँचाई चौड़ाई से कम थी उनके मुँह चौड़े तथा जो लम्बे होते थे उनके मुँह कम चौड़े होते थे। इन घड़ों को लकड़ी, पत्थर या अन्य किसी पदार्थ से बनी चौकी पर बैठाया जाता था। इन घड़ों का निचला भाग समतल नहीं है। छोटे छोटे कुछ घड़ों के गलों पर छिद्र बने हैं। शायद इनमें डोरा लगाकर इन्हें छत या दीवाल से लटका दिया जाता रहा होगा। यह भी संभव है कि इनके ऊपर ढकने बाँधने के लिए ही छिद्र बना दिये गये हों। कई घड़ों की सतह पर इतनी घुटाई कर दी गई है कि उन पर से हाथ फिसलता है। ऐसे ढंग की पालिश का कोई विशेष प्रयोजन प्रतीत होता है। उस युग में भी संभव है पर

की स्त्रियों को गिलहरी तथा चूहों का डर रहता हो।[१] पालिश किये इन घड़ों पर चूहों का चढ़ना कुछ कठिन अवश्य होता रहा होगा। निर्धन वर्ग के लोग घड़ों को नहीं खरीद सकते थे। इसलिए वे अनाज को कमरों के अंदर लिपे-पुते साधारण गड्ढों में ही रख लेते थे। खुदाइयों में अनेक दाँत भी मिले हैं। कई उदाहरणों में ये टूटे तथा घिसे मालूम होते हैं। पिसाई करते समय शायद आटे में पत्थर के कण चले जाते थे। रोटियाँ खाते समय यही कण दाँतों से टकराकर उन्हें हानि पहुँचाते रहे होंगे। किंतु यह धारणा कल्पित ही है। संभव है किसी अन्य कारण से लोगों के दाँत घिस या टूट गये हों।

शूकर, गाय, घड़ियाल, भैंस, कछुवा, पंडुक, भेड़, बकरी, बैल, हिरन, मुर्गे तथा मछली का मांस मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा के निवासियों के भोजन का अंग था। घोंघे के भीतरी भाग को भी लोग खाते रहे होंगे। सिंधु नदी या समुद्र से उन्हें प्रतिदिन ताज़ी या सूखी मछली मिल जाती थी। खुदाई में मछली मारने के बहुत से काँटे मिले हैं। ऐसा मालूम होता है कि आजकल की ही तरह कुछ लोग मछली मारने का धंधा करते थे। खुदाई में कुछ ऐसे गोल छल्ले मिले हैं, जो कि मछली मारने के जालों पर जुड़े रहे होंगे।[२] मोहें-जो-दड़ो में ऐसे छल्लों के साथ जाल के कोई अवशेष नहीं मिले, किंतु टेल आज़मर में छल्लों के साथ जाल के टुकड़े मिले हैं। यह भी हो सकता है कि कुछ नगरों या उनके निकटवर्ती जलाशयों में मछलियों को तालाबों में पाला जाता था। मांस काटने के लिए धातु के अतिरिक्त चकमक पत्थर के हथियारों का प्रयोग होता था।

ऋग्वेद काल से लेकर आज तक भारत में पशु-मांस खाने के लिए किसी न किसी रूप में चलता रहा है। वैदिक हवनों में मांस का विशेष महत्त्व था। महाकाव्य-काल में भी मांस-भक्षण की प्रथा थी। महाभारत में एक स्थल पर लिखा है कि पशुओं की हत्या तथा मांस क्रय करनेवाले अलग-अलग व्यक्ति होते थे। मांसाहार का प्रचार बौद्ध-धर्म के प्रचार के अनंतर बहुत कम हो गया था। गीता के श्लोक अहिंसा परमोधर्म, का भी जनता पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। गुप्त काल में फाहियान लिखता है कि उस समय जन-समाज हिंसा से घृणा करता था। मांस क्रय करने का काम उस समय चांडालों तक सीमित था।[३] सिंधु प्रदेश में मानच्छर सरोवर के निकट एक वर्ग के ऐसे लोग रहते थे जिनका भोजन केवल उसी सरोवर में रहने वाले पशुओं के मांस से निकल आता था। इस सरोवर के निकट कहीं पर भी उपजाऊ भूमि नहीं दीख पड़ती है। इस कारण वहाँ के निवासियों को स्वभावतः मांसाहारी होना पड़ा। इस स्थान पर स्थित बस्ती सिंधु-सभ्यता के अंतिम युग की जान पड़ती है।[४]

नागरिक जीवन की चरम सीमा पर पहुँचकर यह स्वाभाविक है कि लोग दावतों आदि की योजना विशेष अवसरों पर करते रहे होंगे। बाहरी देशों से आये हुए लोगों का विशेष सत्कार किया जाता होगा, क्योंकि अतिथि-सत्कार के लिए भारत सदैव से ही प्रसिद्ध रहा है। सिंधु-सभ्यता के प्रमुख नगरों के खंडहरों से प्याले, थाली, चम्मच आदि वस्तुएँ मिली हैं। मिट्टी के आधारों पर स्थित तश्तरियाँ अति दर्शनीय हैं। इन पर मिठाइयाँ या फल रखे जाते होंगे। घोंघे के बड़े-बड़े आकार के चम्मच भी मिले हैं। इनका क्या प्रयोजन था यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। संभव है हवनों में इनसे तिल, जौ तथा घी डाला जाता रहा हो। यह भी अनुमान है कि दावतों के अवसर पर इनके द्वारा भारी बर्तनों से दाल आदि पदार्थ परसे जाते रहे हों। एक प्रकार की तश्त-

---

[१] मैके, अ० इं० सि०, पृ० ११६ (१९४८) [२] मैके, फ० ए० ए०, पृ० ४३९ [३] फाहियान, यात्रा-वृतांत, पृ० ३१ [४] आ० स० मे०, नं० ४८, पृ० ६५

रियों को कई भागों में बाँट दिया गया है। इनमें विभिन्न प्रकार की तरकारी तथा दाल रक्खी जाती थी। भारत में आज दिन भी ऐसी थालियाँ मिलती हैं, जिन पर शाक, भाजी तथा दाल के लिए कटोरियाँ जुड़ी होती हैं। कुछ छोटे वर्तुलाकार बर्तनों में छिद्र बने हैं। इनके वास्तविक प्रयोग के संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता है। घोंघे की बहुत सी तश्तरियाँ भी खुदाई में मिली हैं। परिवारों में ताँबे तथा पीतल के बर्तनों का प्रयोग भी होता था। निर्धन लोग भूमि पर आसन-चौकी बिछा तथा उच्च वर्गीय लोग मेज़ या तख़त पर बैठकर भोजन करते रहे होंगे।

अनेक प्रकार के पशु-पंजरों से पता लगता है कि सिंधु प्रदेश में बहुत से पशु पालतू रूप में रक्खे जाते थे। कुछ हड्डियाँ तो इतनी नष्ट हो गई हैं कि उनके आकार को पहिचानना कठिन है। यह माना जा सकता है कि इनमें से कुछ हड्डियाँ ऐसे पशुओं की भी हैं जो सिंधु-सभ्यता के विशिष्ट कालों में वहाँ वर्त्तमान थे। सिंधु प्रदेश में दो प्रकार के बैल थे। एक वर्ग के बैल कूबड़ तथा ऊँची सींगवाले होते थे। दूसरे वर्ग के बैलों के कूबड़ नहीं होते थे और इनके सींग भी छोटे होते थे। कूबड़दार बैल की उत्पत्ति तो सिंधु प्रदेश में हुई जान पड़ती है। अन्य पशुओं में भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ता, ऊँट, शूकर तथा बकरी के पंजर पहिचाने जा सके हैं। जंगली पशुओं में काली बिल्ली, हिरन, नीलगाय, बंदर, भालू तथा खरगोश की हड्डियाँ प्रमुख हैं। सिंधु प्रदेश की भेड़ तो उसी वर्ग की थी जिसको कि आजकल काश्मीर में पाला जाता है। इस भेड़ की ऊन बड़ी सुंदर होती है। पालतू पशुओं में कुत्ता विशेष उल्लेखनीय है। कुत्ते का चित्रण कुछ मुद्राओं पर भी मिलता है। चन्हू-दड़ो की एक ईंट पर कुत्ते और बिल्ली के पैरों के चिन्ह हैं और ऐसा अनुमान है कि जब ईंट गीली थी तो उसके ऊपर से बिल्ली का पीछा करते हुए एक कुत्ता दौड़ गया था। हड्डियों से ज्ञात हुआ है कि सिंधु प्रांत में दो प्रकार के कुत्ते थे। इनमें एक तो उसी तरह का साधारण कुत्ता था जिस वर्ग के आज दिन भी गाँवों में पाले जाते हैं। दूसरे वर्ग में बुलडाग जाति का कुत्ता था। इसके बाल प्रायः भूरे रंग के होते थे। मिट्टी के एक खिलौने से भी ज्ञात होता है कि कुत्ते शिकार खेलने में काम आते थे। हड़प्पा से प्राप्त एक मिट्टी में बना कुत्ता दाँतों से खरगोश को पकड़े हुए है। कुत्तों को इस देश में सदैव महत्त्व मिला जान पड़ता है। ई० पू० चौथी सदी में जब अलेक्ज़ेंडर भारत आया था तो सौभूति ने कुत्तों की एक बृहत् प्रदर्शिनी आयोजित की थी।[1] मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में एक कूबड़वाले ऊँट की हड्डियाँ मिली हैं, किंतु उसका न तो खिलौना और न चित्रण ही किसी वस्तु पर दीख पड़ता है। घोड़े तथा गर्दभ भी सिंधु प्रांत में होते थे। मोहें-जो-दड़ो में एक घोड़े का जैसा खिलौना मिला है।[2] इसकी पूँछ तथा कान खंडित हो गये हैं। कुछ विद्वान् इसको घोड़ा मानने में संदेह करते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि ईसा से २००० वर्ष पूर्व जब इलम के लोगों को घोड़े का ज्ञान था, तो यह स्वाभाविक है कि ई० पू० २५०० में सिंधु सभ्यता के निवासी भी घोड़े से परिचित रहे हों। उत्तरी बलूचिस्तान के राना घुंडई स्थान के मूल निवासियों को भी घोड़ा ज्ञात था। हाथी का तो विशद चित्रण मुद्राओं तथा तावीजों में हुआ है। सूअर की हड्डियाँ भी मिली हैं और मिट्टी के एक खिलौने में भी इसकी प्रतिलिपि उतारी गई है।

सिंधु प्रांत के बैल ऊँची नस्ल के होते थे, उनकी मांस-पेशियाँ कितनी गठी तथा दृढ़ होती थीं यह मुद्राओं में अंकित पशुओं से स्पष्ट है। आज दिन भी सिंधु प्रांत के बैल प्रसिद्ध हैं। इन शानदार बैलों के पालन-पोषण की कितनी सुंदर व्यवस्था उस काल में थी इसका अनुमान स्वयं पशुओं के ढाँचों से लग सकता है।

[1] मेगेस्थनीज, मैक्रिंडल, पृ० ६ [2] फ़० ए० मो०, पृ० २८९, ३०६

सिंधु सभ्यता के लोगों को सूत तथा कपड़े का ज्ञान भी था। मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा और चन्हूदड़ो की खुदाइयों में कताई-बुनाई के काम के कई दमकड़े निकले हैं, इनमें कुछ का निर्माण तो साधारण मिट्टी से तथा कुछ का फ़यांस (नफ़ीस) मिट्टी में हुआ है। दमकड़ों में प्राय: २, ३ या ४ छिद्र तक दीख पड़ते हैं। यह निर्विवाद है कि सिंधु प्रदेश में सूत की कताई-बुनाई होती थी। बुने कपड़ों का व्यापार संभवत: बाहरी देशों के साथ भी होता था। श्री दयाराम साहनी को १६२६ में हल्के लाल रंग का कपड़े का टुकड़ा एक चाँदी की कलशी में लिपटा मिला था। इस कलसी के अंदर बहुत से आभूषण भी रक्खे थे। जाँच करने पर पता चला है कि यह कपड़ा शुद्ध भारतीय सूत का बना है। स्मरण रहे कि मोहें-जो-दड़ो की समकालीन सभ्यताएँ केवल अतसी से ही परिचित थीं। मैके को भी कुछ अन्य वस्तुओं में सूत के तागे लिपटे मिले थे।[१] इनको लपेटने का क्या ध्येय था यह बतलाना कठिन है। संभव है आजकल की तरह कुछ वस्तुओं पर लेप मरहम लगाकर उन्हें बाद में रक्षा के लिए कपड़े से लपेट दिया जाता रहा हो। तीन गुरियों पर चिपका कपड़ा तो छाल के रेशों का बना है। कुछ उदाहरणों पर मजीठ का रंग भी चढ़ाया गया था। हड़प्पा की खुदाइयों में कोई कपड़े के टुकड़े नहीं मिल सके हैं, किंतु इसमें संदेह नहीं कि इस नगर के निवासी भी कपड़े से भली भाँति परिचित थे। बुने हुए कपड़ों की छाप हड़प्पा के कुछ फियांस के बने बर्तनों के अंदर तथा ईंटों पर दीख पड़ती है।

बैराट (जयपुर) की खुदाई में भी श्री साहनी को एक और कपड़े का टुकड़ा प्राप्त हुआ था। इस कपड़े में कुछ सिक्के लिपटे रखे थे। यह कपड़ा ईसा की प्रथम सदी में बुना जान पड़ता है।[२]

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में पहिनने का कोई वस्त्र नहीं मिला है। इसका कारण सूत, रेशम तथा ऊन का गैर-टिकाऊ होना है। खंडित, पाषाण या मृण्मूर्तियों के वेशों से ही हम सिंधु सभ्यता के पहिनावे के विषय में कुछ अनुमान कर सकते हैं। मृण्मूर्तियों में कपड़े साधारण मिट्टी की पट्टियों से दिखलाए गये हैं और कोई भी वास्तविक निष्कर्ष उनके रंग या कताई के विषय में नहीं निकल सकता। ज्ञात होता है कि उस काल में आजकल के जैसे सिले कपड़े या साड़ियाँ पहिनने की प्रथा नहीं थी। शिरोभूषा बहुत भारी तथा अलंकृत होती थी। यह शिरोभूषा किस वर्ग के लोगों में प्रचलित थी यह कहना कठिन है। पंखे की आकृति का शिरोवस्त्र विशेष प्रिय जान पड़ता है। यह पीछे से किसी पक्के नारे से थामा जाता था। इस शैली की विचित्र शिरोभूषा संसार के अन्य किसी देश में देखने को नहीं मिलती। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में भी यह शिरोभूषा उन्हीं मूर्तियों तक सीमित है जिन्हें पुरातत्वज्ञ मातृ देवी की मूर्तियाँ मानते हैं। कुछ मृण्मूर्तियों के चेहरों के दाएँ-बाएँ प्याले जैसी वस्तुएँ टिकी हैं। इनका संबंध वेशभूषा से नहीं जान पड़ता है। संभव है इन पर धूप आदि कोई पदार्थ जलाया जाता हो, क्योंकि कुछ उदाहरणों के भीतर काले रंग के चिन्ह वर्तमान हैं। स्त्रियों की मूर्तियों के कटि भाग में घुटनों तक लटकता एक पटका पड़ा रहता है। कभी-कभी यह पटका फुन्नों से चित्रित भी दीख पड़ता है। मुद्राओं पर जो स्त्रियाँ अंकित हैं उनमें पीछे की ओर पटका कुछ ऊँचा उठा है। इसका कारण समझ में नहीं आता। वक्ष से ऊपर का भाग प्राय: नग्न ही रहता था। केवल एक उदाहरण में संपूर्ण शरीर पर संघाटी जैसी कोई वस्तु लिपटी है। संभव है शीत ऋतु में इस प्रकार की संघाटियों को पहिना जाता रहा हो। एक मूर्ति में गले तक कोई वस्त्र पड़ा है, परंतु वक्ष पर पड़े भाग का कपड़ा काट दिया गया है।

---

[१] मैके, फ० ए० मो०, पृ० २६१ [२] साहनी, ए० पे० बै०, पृ० २२

प्रायः सभी स्त्रियों की कमर पर एक मेखला पड़ी रहती है। इसमें नाना भाँति की गुरियाएँ गुँथी होती थीं। पटके को थामने के लिए कपड़े के नारे भी प्रयुक्त होते थे।

पुरुषों की आकृतियाँ कम मिली हैं। इनमें जो हाथ से बनी हैं वे तो नग्न ही हैं, किंतु मुद्राओं पर जो पुरुष आकृतियाँ हैं वे एक छोटा सा पटका पहिने हैं। एक अन्य बैठी मूर्त्ति में पुरुष लम्बी संघाटी पहिने है। यह संघाटी कमर पर एक रस्सी से बँधी है। सिंधु-सभ्यता के निवासियों का नग्न रहना कुछ अस्वाभाविक सा लगता है। वे अपने विभिन्न अंगों को किसी न किसी रूप में अवश्य ढँकते रहे होंगे। आधुनिक शाल की तरह अंग को ढँकने की प्रथा भी रही होगी। यह शाल प्रायः बाएँ कुहने के ऊपर तथा दाएँ हाथ के नीचे होकर शरीर पर पड़ा रहता था। इसके नीचे भी कोई कपड़ा पहिना जाता था इसका हमें पता नहीं। संभवतः यह शाल किसी सलाई से शरीर पर बाँधा जाता था। मेसोपोटमिया की कई क़ब्रों में अस्थिपंजरों की बाहों के निकट सलाइयाँ प्राप्त हुई थीं। वूली महोदय का विचार है कि उस काल में शरीर पर लपेट कर कपड़ा पिन से बाँध दिया जाता था।[1] उर में कुछ सलाइयाँ कुचली खोपड़ियों के निकट मिली थीं और मैके कहते हैं कि ये संभवतः सिरों पर लगी थीं। किश की खुदाइयों से तो यह प्रत्यक्ष हो गया है कि ऐसी सलाइयाँ प्रायः सिरों पर ही लगाई जाती थीं। पुरुषों के गले पर कभी-कभी बुने हुए कपड़े का दुपट्टा जैसा कोई वस्त्र पड़ा दीखता है। अभी तक ऊनी वस्त्र के कोई चिन्ह खुदाइयों में नहीं मिले हैं। सुमेर तथा इलम की तत्कालीन सभ्यताएँ ऊन के वस्त्रों का बराबर प्रयोग करती थीं।

ऐसा अनुमान है कि सिंधु-सभ्यता के लोग रँगे कपड़ों का प्रयोग भी करते थे। मकानों के फ़र्शों पर कई ऐसे घड़े रक्खे पाये गये, जिनमें शायद रंग भरा जाता था। इनमें लोग रँगने के लिए कपड़े डुबा देते रहे होंगे। लुढ़कने से बचने तथा रक्षा के ध्येय से इन बर्तनों के मुँह के चारों ओर से ईंटें लगा दी गई थीं।

निर्धन तथा धनी व्यक्तियों की वेषभूषा में निस्संदेह अंतर रहा होगा। निर्धन मोटे तथा सादे कपड़े तथा धनी महीन तथा अलंकृत कपड़े पहिनते रहे होंगे। सिंधु-सभ्यता के केंद्रीय स्थानों से प्राप्त वस्तुओं पर कई तरह का अलौकिक चित्रांकण हुआ है। ऐसे कला प्रेमी समाज में अलंकृत कपड़ों का पहिना जाना कोई अनोखी बात नहीं है।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा के लोगों को नाना भाँति के केश-कलापों से प्रीति थी। बाल प्रायः पीछे की ओर ले जाकर जूड़े या चोटी में गूँथे जाते थे। कुछ मूर्त्तियों में बाल कतरे हुए भी जान पड़ते हैं। क्या उस समय भी "बाब्ड" बाल रखने की कोई प्रथा थी? एक योगी की मूर्ति में बाल भली भाँति सँवार कर पीछे की ओर छोड़ दिये गये हैं। इनको फिर एक सुंदर नारे से बाँधा गया है। कुछ मूर्त्तियों में बाल कढ़े, चोटी कई चूड़ों में सिर के ऊपर लपेट कर छोड़ दी गई है। धातु तथा बुने हुए नारों का भी विशद प्रचलन मालूम होता है। खुदाई में ६६ इंच लंबे तथा ½ इंच मोटे सोने के नारे तक मिले हैं। इनका प्रयोग उच्चवर्गीय लोग ही करते रहे होंगे। कुछ नारों की गाँठों से पता लगता है कि वे कपड़े के बने थे। स्त्रियों के केश-कलापों के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वे भारी शिरोभूषा के नीचे प्रायः ढँक गये हैं। एक स्त्री के बाल बीच में माँग निकालकर पीछे से एक चोटी में गूँथ दिये गये हैं। पुरुषों की टोपी जैसी कोई वस्तु अभी तक देखने में नहीं आई।

पुरुष कई ढङ्ग की दाढ़ियाँ रखते थे। कुछ उदाहरणों में ओंठ का ऊपरी भाग साफ कर

[1] वूली, डि० आ० पा०, पृ० १०३-४

दिया गया है। ऐसी प्रथा अभी भी दाढ़ी रखनेवाले कुछ मुसलमानों में पाई जाती है। सुमेर में भी ओंठ के ऊपरी भाग को साफ रखने की प्रथा थी, किंतु अन्य देशों की तरह सिंधु—सभ्यता के लोग लंबी दाढ़ियाँ नहीं रखते थे। एक मूर्ति में दाढ़ी कड़ी मालूम देती है। इसमें बाल खड़े होकर आगे को निकले हैं। दूसरे उदाहरण से पता चलता है कि वहाँ के लोग दाढ़ी पर खिज़ाब जैसे किसी पदार्थ का प्रयोग करते थे। एक अन्य पुरुष की मूर्ति में दाढ़ी की नोक अंदर की ओर घुमा दी गई है। मैके का कहना है कि ऐसी दाढ़ियाँ पहिने मूर्त्तियाँ देव पुरुषों की थी।[१] कुछ उदाहरणों में भिक्षुओं की तरह सिर बिल्कुल मुँड़े से मालूम होते हैं।

अन्यत्र हमने सिरों पर लगाने की सलाइयों का उल्लेख किया है। एक मूर्ति के सिर पर लगी ऐसी सलाई स्पष्ट है। इन सलाइयों को भी आकर्षित ढंगों में बनाया जाता था। एक सलाई का सिरा दो सींगों से बना है, दूसरा गोल छल्ले का तथा तीसरे का सिर गले में हाथ डाले दो बन्दरों की आकृतियों के रूप में है। एक अन्य उदाहरण में सलाई के सिरे पर दो बन्दर सिमट कर बैठे हैं।

खुदाई में चार प्रकार के उस्तरे निकले हैं। सबसे प्रचलित उस्तरे वे थे जो दोनों तरफ से काम दे सकते थे। बिल्कुल सीधे परंतु सिरे पर गोलाकार नमूने के उस्तरे भी व्यवहृत होते थे। सिर मूँड़ने तथा हजामत दोनों कार्यों के लिए इन उस्तरों का प्रयोग होता रहा होगा। बाल काटने के लिए कैंचियाँ भी रही होंगी। पीतल के दर्पण भी मिले हैं। इन पर बहुत चमकाव कर दिया जाता था। मूँठ या तो हाथीदाँत या लकड़ी की होती थी। बच्चों के प्रयोग के लिए छोटे आकार के शीशे होते थे।

मोहें-जो-दड़ो में सीने की कुछ सुइयाँ भी मिली हैं। बड़े-बड़े तार के टुकड़ों से बोरे या चमड़े की वस्तुओं को सीने का काम लिया जाता था। श्री दीक्षित को सीने की तीन सलाइयाँ मिली थीं। संभव है धनाढ्य घरों में काढ़ने के लिए ये प्रयोग में आती रही हों। सैकड़ों वर्ष तक भूमि में पड़ी रहने से इनका वास्तविक रूप बदल गया है, किंतु इसमें संदेह नहीं कि इन सलाइयों पर अलंकरण भी किया गया था।

पीतल, ताँबे, खरिया तथा फियास के बटन भी सिंधु सभ्यता के लोग प्रयोग में लाते थे। धातु के बटन प्रायः गुंबद आकार के होते थे। बटनों में छिद्र पीछे की तरफ रहते थे। इन बटनों को कैसे वस्त्रों पर लगाया जाता था यह बतलाना कठिन है।

मोहें-जो-दड़ो तथा सिंधु प्रदेश के निवासियों का कला प्रेम उनके द्वारा व्यवहृत आभूषणों में मिलता है। आजतक जितनी भी मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं वे बहुत से आभूषण पहने हैं, किंतु इन आभूषणों के ठीक रूप को जानना असंभव है। कुम्हार का प्रयोजन आभूषणों का संकेत मात्र करना था। किस आकार या शैली के गहने थे, इस ओर उसका [illegible]। इस क्षीण अंकन के अतिरिक्त चाँदी, ताँबा तथा पीतल की कलसियों में जो प्रायः फर्शों के नीचे दबी मिली हैं वास्तविक आभूषण सुरक्षित थे। नगर के निम्न वर्ग के लोग ताँबा, पीतल, मिट्टी या घोंघे के आभूषण पहनते थे। धनी लोगों के लिए सोना, चाँदी, हाथी दाँत तथा अन्य बहुमूल्य धातुएँ प्रस्तुत थीं। आभूषणों में कंठहार, सिरबन्द, बाजूबन्द, करधनी, पायजेब, कड़े, हँसली, कर्णफूल आदि का प्रयोग सिंधु—सभ्यता के लोग करते थे। मालाएँ कई लड़ियों में बनती थीं और प्रत्येक लड़ी के बीच या अंत में लगाने के लिए सुवर्ण तथा अन्य धातुओं की पट्टियाँ बनती थीं। इन पट्टियों पर दो से छः तक छिद्र मिलते हैं। इन्हीं छिद्रों में से होकर महीन तार या डोरी खींची

---

[१] मैके, अ० इं० सि०, पृ० ८८

जाती थी। कमर में करधनी पड़ी रहती थी। इसमें भी कई लड़ें होती थीं। इनमें मूल्यवान् या अर्ध मूल्यवान् पत्थरों के दाने पिरोए जाते थे। अनेक हार तो चंदनहारों की तरह ही पहने जाते थे। कड़े प्रायः कम मूल्य की धातुओं के बनते थे। सोना तथा चाँदी के कुछ पोले कड़े प्राप्त हुए हैं। संभव है धातु की बचत के लिए इनके अंदर लाख जैसा पदार्थ भरा जाता रहा होगा। इन सब आभूषणों की सुंदरता देखते ही बनती है। रंग-बिरंगी, चित्ताकर्षक गुरियों को अनेकानेक आकारों में काटकर उन्हें कलात्मक ढंग से पिरोने में सिंधु-सभ्यता के लोगों ने विशेष कौशल प्रदर्शित किया। कंठहारों में सोने की जो चिपटी गुरियाँ लगी हैं वे बड़ी ही मनोहर हैं।

अँगूठियाँ भी कई तरह की मिली हैं। इनमें से अधिकतर सादे तार या चिपटी धातु के टुकड़ों को मोड़कर बनाई गई हैं। कानों के लटकनों का अभाव-सा दीख पड़ता है। सर जान मार्शल कहते हैं कि किसी धार्मिक संकोच के कारण लटकन मृत्यु से पहिले निकाल दिये जाते थे। उनकी धारणा है कि निकट भविष्य में शायद फिर ऐसे लटकन प्राप्त हो सकें। कानों के कुंडल भी वर्तमान थे। कुछ कुंडल तो गुरियों में छिद्रकर के ही बना दिये जाते थे। स्त्रियाँ पैरों पर पायज़ेब, भँवर तथा कड़ों को पहिनती रही होंगी। पीतल की नर्तकी के पैर तथा हाथों में बहुत से कड़े दीख पड़ते हैं। कुछ कीलों तथा कुल्लियों को भी नाक का आभूषण माना जा सकता है। इन आभूषणों के सिरों पर अलंकरण हैं। किंतु यह अनुमान मात्र ही है। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त किसी भी मूर्ति की नाक पर कील नहीं दीख पड़ती है। विद्वानों का मत है कि भारत में नाक का आभूषण मुसलमानों के आगमन के साथ प्रविष्ट हुआ। इस धारणा में अवश्य कुछ सचाई है क्योंकि समस्त संस्कृत साहित्य की छानबीन करने पर भी, किसी भी स्थल पर नाक के आभूषण का उल्लेख नहीं मिलता। भारत के ऐतिहासिक युग में बनी मूर्तियों में भी यह आभूषण कहीं नहीं दीख पड़ता है।[1]

मिट्टी के निर्मित बाज़ूबंद कुरूप हैं। इनमें कुछ पकाकर कड़े कर दिये गये हैं। कुछ बाज़ूबंदों पर लिखावट भी दीख पड़ती है। इनका विशेष महत्त्व जान पड़ता है। त्रिकोण ढंग का शिरोभूषण, जिसे चौक कहते हैं सिंधु प्रदेश में विशेष रूप से प्रचलित था। इस आभूषण को हड़प्पा की कई मृण्मूर्तियों में देखा जा सकता है। इसके बनाने के लिए चीनी मिट्टी, हाथी दाँत तथा मिट्टी प्रयुक्त होती थी।

पायज़ेब का कम प्रचार मालूम देता है। पीतल की एक मूर्ति के पैर पर पायज़ेब जैसा गहना दीख पड़ता है। कभी-कभी तो बाज़ूबंद और पायज़ेब के बीच में अंतर दिखलाना कठिन हो जाता है।

गले के हार मिट्टी की गुरियों के भी बनते थे। इनके ऊपर संभव है कुछ रंग या अलंकरण किया जाता रहा हो। इनका प्रचलन निर्धन समाज में ही अधिकतर रहा होगा। कंठहारों की कुछ गुरियों पर लिखावट भी है। संभव है इन पर, बनानेवालों या कारखानों के नाम खुदे हों।

आभूषणों के विवरण में इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में सोने की केवल एक और वह भी बहुत साधारण ढंग की अँगूठी प्राप्त हुई है। चाँदी की भी एक ही अँगूठी मिली है। सिंधु-सभ्यता के समकालीन अन्य देशों में चाँदी के तारों की अँगूठियों का बड़ा चलन था। मूल्यवान् धातुओं की अँगूठियाँ क्यों सिंधु प्रांत के लोगों ने नहीं बनाई यह अचरज की बात है। संभव है चाँदी की धातु से बनी अँगूठियाँ पहनने का कोई निषेध रहा

[1] अल्टेकर, पो० वो० हिं० सि०, पृ० ३६२-३

हो।[1] कई मृण्मूर्तियों के गले पर एक पट्टी सी है। यह कौन सा आभूषण है यह बतलाना कठिन है। कुछ उदाहरणों की निकट से परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि यह वस्तु कई छल्लों को जोड़कर बनी है। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि यह गले पर कसकर बँधी रहती है। भारत में अभी एक प्रकार का ऐसा ही आभूषण 'गुलूबंद' कहलाता है परंतु वह छल्लों का नहीं बनता है। संभव है किसी पुराने 'गुलूबंद' का ही परिवर्तित रूप यह आभूषण भी हो।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा की खुदाइयों में धातु तथा मिट्टी के छोटे-छोटे कई बर्तन प्राप्त हुए हैं। इनमें कुछ की ऊँचाई तो आध इञ्च से भी कम है। इनका क्या प्रयोग था ज्ञात नहीं है। संभवतः इन पर इत्र या शृंगार का कोई पदार्थ रखा जाता रहा होगा। यह भी संभव है कि इनमें कुछ के अंदर कील या अँगूठी जैसे छोटे-छोटे आभूषण रखे जाते रहे हों। आजकल भी स्त्रियाँ छोटे-छोटे गहनों को सिंदूर से भरी छोटी डिबियों में प्रायः रख दिया करती हैं। विज्ञान के इस युग में, आज, सौंदर्यवर्धक पदार्थों की सर्वत्र बाढ़ सी आ गई है और यह संभव है कि प्राचीन काल में भी इस प्रकार के सौंदर्यवर्धक पदार्थ उपलब्ध रहे हों। समय-समय पर हम देखेंगे कि सिंधु-सभ्यता के अनुगामी बड़े सौंदर्य-प्रेमी थे। वे शरीर को नाना भाँति के गहनों तथा वस्त्रों से सुसज्जित रखते थे। हड़प्पा में बोतल के सदृश्य एक पात्र मिला है। इसके अंदर काले रंग का पदार्थ जमा था। यह काला पदार्थ काजल हो सकता है क्योंकि खुदाइयों में प्राप्त सींकों से ज्ञात होता है कि सिंधु-सभ्यता के लोग काजल का बहुत प्रयोग करते थे। यह संभव है कि पुरुष भी कभी-कभी काजल लगाते रहे हों। पीतल तथा ताँबे की थोड़ी सी सिंकच्चियाँ प्राप्त हुई हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय अधिकतर सींक लकड़ी या अन्य किसी गैर टिकाऊ पदार्थ की बनती थीं। प्राप्त सींकों की लंबाई ४-४"से ५-५" तक है और इनके दोनों सिरे गोल बना दिये गये हैं।[2] चेहरे पर भी उस काल के लोग पाउडर या उबटन लगाते रहे होंगे। घोंघे के खोखले पात्रों पर कुछ पदार्थ भरा मिला था। ऐसे पात्र उर तथा किश की क़ब्रों में भी पाये गये हैं। मोहें-जो-दड़ो और हड़प्पा में सीसे के 'कार्बोनेट' का बना पदार्थ भी मिला है। इस पदार्थ से प्राचीन यूनान तथा चीन में चेहरे को चमकाया जाता था।[3] "सिल्लावार" नामक सौंदर्यवर्धक पदार्थ भी मोहें-जो-दड़ो निवासियों को ज्ञात था। एक प्रकार का हरा पदार्थ (टिरे भर्टे) जो कि ढेरों में मोहें-जो-दड़ो में मिला है, बर्तन रंगने तथा नेत्रों पर लगाने के काम आता रहा होगा।

खुदाइयों में अनेक खंडित कंघियाँ भी मिली हैं। ऐसा अनुमान है कि इनमें अधिकतर तो बालों में खोंसी जाती थीं। हाथी दाँत का एक सुंदर अलंकृत कंघा, एक युवती की खोपड़ी के निकट पड़ा मिला था। यह कंघा उसके सिर पर लगा रहा होगा। छोटे बच्चे की एक खोपड़ी के साथ भी कंघा मिला था।[4] मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त एक मिट्टी के बर्तन पर कंघे का चित्रण है। वह हड़प्पा से प्राप्त हाथी दाँत के कंघे की ही तरह है।[5]

---

[1] मैके, फ० य० मो०, पृ० ५३१ [2] वत्स, फ० य० मो०, पृ० ४७५ [3] मैके, अ० इं० सि०, पृ० ३१ [4] मैके, फ० य० मो०, पृ० ११८ [5] ए० रि० आ० स० इं०, १९२७-८, चित्र० २४ (डी०)

चौथा अध्याय

जीवन की झाँकी (१)

पकाई हुई सैकड़ों मृण्मूर्तियाँ मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो में मिली हैं। इन मूर्त्तियों की परम्परा आज दिन तक इस देश में चली आ रही है। भारतीय कुम्हारों ने विभिन्न युगों में इस माध्यम में उत्कृष्ट आकृतियाँ बनाईं। इनसे तत्कालीन समाज के जीवन की बहुमुखी झाँकी मिलती है। इसके अतिरिक्त धार्मिक मतों को जानने में भी इन मृण्मूर्त्तियों से यथेष्ठ सहायता मिली है। मोहें-जो-दड़ो की मृण्मूर्तियाँ कला-कौशल की दृष्टि से तो कुछ विशेष महत्व नहीं रखती हैं पर विषयों की दृष्टि से इनका कुछ महत्व अवश्य है।

युग युगों से विश्व में बच्चों की क्रीड़ा के लिए खिलौने बनते रहे हैं। बहुत से देशों में तो वे ग़ैर-टिकाऊ वस्तुओं के बनते थे इसलिए वे नष्ट हो गये। कुछ खिलौने आजकल की ही तरह स्वयं बच्चे भी बनाते रहे होंगे। ऐसे उदाहरणों की रूप रेखा इसी लिए प्रौढ़ नहीं है। यह माना जा सकता है कि आधुनिक काल की तरह खिलौने व्यापार के लिए भी बनते थे, यद्यपि इनकी खासी बिक्री स्थानीय मुहल्लों में ही हो जाया करती होगी। सिंधु-सभ्यता के अवशेषों के बीच कई कौतूहलप्रद खिलौने प्राप्त हुए हैं। बंदर जैसी आकृति के एक पशु के हाथ घुमाने से हिल जाते हैं। बैल के एक खिलौने का सिर हिलता है इसकी पीठ से लेकर पैरों के पिछले भाग तक छेद है। इस ढंग के खिलौनों का बहुत प्रचलन था। हाथी के एक खिलौने के बदन को झटका देने से वह विचित्र शब्द उत्पन्न करता है। एक पशु का सिर तो भेड़े की तरह है किंतु शरीर तथा पूँछ चिड़िया जैसी है। इसके बदन के दोनों ओर छिद्र बने हैं। संभव है इन छिद्रों पर लकड़ी डाल तथा कोनों पर रस्सी बाँधकर इन पशुओं को झुलाया जाता था। यह भी संभव है कि लकड़ी पर दोनों ओर से पहिए लगाकर गाड़ी बना दी जाती रही हो।[1] रस्सी द्वारा ऊपर नीचे खींचे जानेवाले पशुओं के खिलौने विशेष रूप से प्रचलित थे। खुदाइयों में सैकड़ों सीटियाँ भी मिली हैं, इनमें कई तो पशुओं की आकृति की हैं। एक सीटी तो नाशपाती जैसे फल की है। सीटियों के बग़ल तथा सिर पर छिद्र हैं। बग़ल के छिद्र को बंद करके तथा सिर के छिद्र से बजाने में एक विचित्र ध्वनि प्रकट होती है। कुछ पक्षी पिंजड़ों में भी बंद दिखलाए गये हैं। ऐसा प्रतीत होता कि उस युग में भी लोग, पक्षियों को पालते थे। एक पिंजड़े में तो बड़ा ही सुन्दर दृश्य है। इसमें एक पक्षी तो पिंजड़े से बाहर निकल रहा है तथा दूसरा पिंजड़े की बाहरी दीवाल पर बैठा है। एक पिंजड़े के अंदर से बुलबुल जैसा पक्षी दरवाज़े से निकल रहा है। एक अन्य उदाहरण में एक पशु किसी स्तंभ या पेड़ के तने पर चढ़ता दीख पड़ता है। कुछ पशुओं के धड़ मात्र ही मिले हैं। इनके पैर अवश्य लकड़ी के बने रहे होंगे। बंदर संभव है आजकल की तरह पवित्र माना जाता रहा होगा। घुटने के बल बैठे बंदरों की कई आकृतियाँ मोहें-जो-दड़ो में मिली हैं।[2] ये पशु अधिकतर चीनी मिट्टी तथा अन्य पदार्थों में बने मिलते हैं। मिट्टी में बहुत ही कम बंदर बनाये गये थे। बैलों के भी कई माडल प्राप्त हुए हैं। इनमें कूबड़ तथा बिना कूबड़ दोनों जाति के बैलों के खिलौने हैं। मोहें-जो-दड़ो की निम्न

---

[1] मार्शल, मो० इं० सि०, जिल्द २, पृ० ५५० [2] वही, १६, ११, १३

स्तहों से जो बैल मिले हैं उनके अगले तथा पिछले पैर एक दूसरे से जुड़े हैं किंतु ऊपर के स्तरों में मिले खिलौनों में अलग-अलग दिखलाये गये हैं। मोहें-जो-दड़ो में एक अति सुंदर बैल का खिलौना मिला है।[१] इसको हाथ से बड़ी कुशलतापूर्वक बनाया गया है। कलाकार ने पशु के अंग प्रत्यंग को ठीक रूप देने के लिए चाकू का स्वतंत्र प्रयोग किया गया है। खुदाइयों में घोंघे के बने बैलों के सिर भी मिले हैं। इनकी रूप रेखा देखते ही बनती है। इन सिरों को किसी अन्य पदार्थ के बने शरीरों पर बैठाया जाता था। मुद्राओं तथा ताबीज़ों पर प्रायः एक-शृंगी पशु ही अंकित है, किंतु इस पशु के बहुत ही कम खिलौने सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा के खँडहरों से मिले हैं। इसी प्रकार हाथी के भी थोड़े से ही खिलौने खुदाइयों से निकले हैं। नीलगाय के कई खिलौने ऊपर की तहों में पाये गये हैं। इस पशु का शरीर कुरूप होता है किंतु स्वभाव अति शान्तिमय होने से सिंधु सभ्यता का अनुसरण करनेवाले व्यक्तियों ने इसके खिलौने बना डाले। कई उदाहरणों में इस पशु के शरीर की परतों को दिखलाने का यत्न किया गया है। किंतु यह कहना ही होगा कि हाथ से बने इन पशुओं में वह वास्तविकता नहीं आ पाई जो कि मुद्राओं में चित्रित पशुओं में दीख पड़ती है। बकरी तथा भेड़ के खिलौने भी प्रचलित थे, किंतु इन दोनों पशुओं की बनावट ऐसी विचित्र है कि एक-दूसरे में भेद निकालना कठिन हो जाता है। भैंसे के खिलौने तो नाम मात्र के ही लिए बनाए गये थे।

झुनझुनों की ओर भी उस काल के शिशुओं की विशेष प्रवृत्ति थी। कुछ खोखले पशुओं के अंदर दाने रख दिये गये थे। कभी-कभी झुनझुनों के बाहर काले तथा लाल रंग की रेखाएँ चित्रित कर दी जाती थीं। झुनझुने प्रायः हाथों से ही बनाये जाते थे और इनके अंदर एक से लेकर चार तक दाने होते थे। चन्हूदड़ो में भी कुछ अच्छे झुनझुने मिले हैं। अधिकतर झुनझुने गोल गेंद की तरह हैं।

मानव आकृति के अनेक खिलौने जिन्हें मृण्मूर्तियाँ कहा जाता है भी सिंधु-सभ्यता के सभी क्षेत्रों में मिली हैं। ये साधारण मिट्टी की बनी हैं और यह कहा जा सकता है कि मृण्मूर्तियों के बनाने में कलाकारों ने पशुओं के खिलौनों से अधिक ध्यान दिया है। यह बतलाना कठिन है कि इस वर्ग में कौन से खिलौने और कौन सी मूर्तियाँ देवी देवताओं की हैं। वर्तमान अध्ययन के आधार पर तो कहा जा सकता है कि जिन मूर्तियों में विशेष कुशलता नहीं वे बच्चों के खिलौने हैं। मैके को खुदाइयों में छोटे-छोटे बौने की भी आकृतियाँ मिली थीं। ऐसे बौने मिश्र देश में भी प्रचलित थे।

पक्षियों के बहुत से खिलौने मोहें-जो-दड़ो तथा सिंधु प्रदेश में मिले हैं। अधिकतर पक्षी पंख फैलाए किसी गोल आधार पर स्थित हैं। पंख फैलाए बतख के अनेक खिलौने विभिन्न स्तरों पर मिले हैं। श्री मैके का अनुमान है कि सिंधु-सभ्यता तथा सुमेर के प्रधान नगरों में बतख का विशेष महत्त्व था।[२] एक दूसरे उदाहरण में पशु के पर पंखे की तरह खुले हैं। इसी पशु के शरीर पर सफ़ेद रंग तथा परों पर हरा, लाल और काला रंग लगाया गया था। इस प्रकार एक मुर्गी के खिलौने पर भी रंग लगा था। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त मुद्राओं पर मुर्गी का चित्रण दीख पड़ता है किंतु समस्त खुदाइयों में मुर्गी का केवल एक ही खिलौना मिला है। मोर सिंधु सभ्यता के लोगों को अवश्य ज्ञात था क्योंकि इसका चित्रण उनके बनाये मृत्पात्रों पर प्रायः मिलता है। खेद है कि मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में मोर का कोई खिलौना नहीं मिला है। दो

---

[१] मैके, फ० ए० मो०, जि० १, पृ० २८८ [२] वही पृ० २९५

एक पक्षियों को, जिनके पर खुले हैं, हम मोर मान सकते हैं। मोहें-जो-दड़ो में एक हंस का खिलौना भी मिला हैं। एक पक्षी का मुँह खुला हुआ है।[1] संभव है यह गाना गाने की मुद्रा में बनाया गया हो।

घोंघे के टुकड़ों का प्रयोग अधिकतर आभूषणों तथा वस्तुओं के ऊपर जमाने के लिए होता था। घोंघे को काटना कठिन होता है और इसी कारण सिंधु सभ्यता के अनुगामी इसका विशद प्रयोग नहीं कर पाए। अन्यत्र हम लिख ही चुके हैं कि घोंघा सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा में पर्याप्त संख्या में उपलब्ध था। छोटे से व्यवसाय के रूप में संभवतः घोंघे का व्यापार चलता था। इसको काटने के लिए आरी तथा तेज़ चाकू प्रयोग में लाये जाते थे। कटे हुए घोंघे के अंदर कहीं-कहीं पर रंग भरा भी मिला है।

सिंधु-सभ्यता के सभी केंद्रों में खिलौने पाये गये हैं। इनमें कुछ तो देवी-देवता या उनके वाहन रहे होंगे, किंतु अधिकतर खिलौने बच्चों के दिल बहलाव के लिए बनाये जाते थे। अनुमान किया जाता है कि खिलौने आधुनिक चीन तथा जापान के सदृश्य औद्योगिक संस्थाओं द्वारा प्रचारित किये जाते थे। किंतु किस वर्ग के लोगों में इनकी खपत थी यह बतलाना कठिन है।

सिंधु सभ्यता का अनुसरण करनेवाले लोग गाड़ी तथा रथ के प्रयोग से विज्ञ थे। वैसे तो व्यापार या आवागमन के लिए, खच्चर, ऊँट, नाव आदि का प्रयोग होता रहा होगा किंतु बैल-गाड़ियों के कई माडलों को देखकर ज्ञात होता है कि उनसे भी ऐसा ही काम लिया जाता था। आज दिन भी उसी शैली की बैल-गाड़ियाँ सिंधु प्रदेश तथा पंजाब में चलती हैं। अंतर केवल इतना है कि आधुनिक बैलगाड़ियों में बैठने का फ़र्श कुछ ठोस सा रहता है। अन्य दिशाओं में, जैसे गाड़ी का सामान रखने के लिए चार डंडों से बना घेरा प्रागैतिहासिक और आधुनिक काल का एक-सा ही है। हड़प्पा की सड़कों पर कुछ गाड़ी के पहियों के चिन्ह भी दीख पड़े हैं। इनकी चौड़ाई लगभग ३' ६" है और यही चौड़ाई आज दिन तक सिंधु प्रांत और पंजाब के पहियों में चली आई है।[2] सिंधु-सभ्यता के किसी भी नगर में पूरी बैलगाड़ी नहीं मिली है। अधिकतर गाड़ियों के चौखटे ही मिले हैं। उनके साथ न तो पशु ही जुड़े थे और न पहिए। जान पड़ता है कि पशु एक लम्बी लकड़ी के द्वारा गाड़ी से जुतते थे। बीच का चौखटा दोनों ओर से थोड़ा मुड़ा रहता था।[3] मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में कई मृच्छकटिकाओं के पहिए भी मिले हैं। इन पहियों पर एक ही ओर छिद्र के पास कुछ ऊँचा बना रहता है। सुमेर में भी इसी तरह के पहिए मिले हैं, किंतु वहाँ बीच के पहिए के छिद्र के पास दोनों ओर ऊँचा कर दिया जाता था।

हड़प्पा में पीतल की आधुनिक इक्के से मिलती-जुलती एक गाड़ी प्राप्त हुई है। इसको खींचनेवाला पशु तथा पहिए खंडित हो गये हैं। गाड़ी का अगला तथा पिछला भाग खुला है। इसके ऊपर चंदोवा जैसी वस्तु पड़ी थी। अगले भाग में एक ऊँची सीट पर गाड़ीवान बैठा है। यह गाड़ी दो इंच ऊँची है।[4] चन्हू दड़ो में भी मैके को बिल्कुल ऐसी ही दो गाड़ियाँ प्राप्त हुई थीं। इनमें एक के पहिए समूचे हैं। सामने गाड़ीवान हाथ में चाबुक लिए बैठा है। दूसरे उदाहरण में

---

[1] मैके, फ० ए० मो०, जि० २, चि० ७०, नं० २६ [2] पिगट, पी० इं०, पृ० १७६

[3] मार्शल, मो० इं० सि०, जि०, ३, चि० ४४, १०, १० [4] वत्स, ए० ह०, जि० १, पृ० ६६-१००

गाड़ी के पहिए नहीं हैं, किंतु इसके ऊपर एक छत है। यह गाँव की सी गाड़ी मालूम देती है।[१] इन गाड़ियों के साथ लगे पशु टूटकर अलग हो गये हैं। भाग्यवशात् मोहें-जो-दड़ो की खुदाइयों में दो पीतल के बैल मिले हैं, जो कि एक बार खेलने की गाड़ियों से जुड़े रहे होंगे। मध्य पूर्वी देशों में पहिएवाली गाड़ियों तथा रथों का अति मनोरंजक इतिहास है। भारत में बच्चों की ऐसी गाड़ियों की आज दिन तक बड़ी माँग है। ऐतिहासिक युग में मिट्टी में छोटी-छोटी गाड़ियाँ (मृच्छ-कटिकाएँ) बनीं। शुंग-काल में तो अनेक दर्शनीय मृच्छकटिकाओं का निर्माण हुआ।[२]

हड़प्पा में गदहे की कुछ हड्डियाँ प्राप्त हुई हैं, जिससे कि पता चलता है कि यह पशु सिंधु प्रदेश निवासियों को ज्ञात था। इस बात का अनुमान लगाना वास्तव में कठिन है कि यह पशु बोझा ढोने के काम आता था या नहीं। किंतु जहाँ तक हमारा विचार है, प्रागैतिहासिक काल में बैलगाड़ियों से ही बोझा इधर-उधर ले जाया जाता रहा होगा। बेबीलोन की सभ्यता के प्रारंभिक काल में वहाँ के निवासी घोड़ों से परिचित नहीं थे। इस कारण वहाँ रथों को प्रायः गदहे ही खींचा करते थे।[३]

मिट्टी की बनी मोमबत्ती जैसी एक वस्तु भी मोहें-जो-दड़ो में मिली है। ऐसी मोमबत्तियों को टिकाने का एक पात्र भी वहाँ मिला है। हड़प्पा में कई भवनों की दीवारों पर लैम्प या दीपक रखने के लिए आधार बने थे। ये आधार दीवार पर चुनी गईं ईंटों के, जो कि सतह से आगे बढ़ा दी जाती थीं बने थे। ये ईंटें बीच में गहरी कर दी जाती थीं जिससे उनमें दीपक दृढ़ता के साथ टिक सके। यह भी संभव है कि इन ईंटों से ही दीपक का काम ले लिया जाता रहा हो। इनमें कुछ तो आकार में चौकोर हैं तथा इनके एक ओर ऊँची पीठ बनी हैं। इस पर धुएँ के दाग़ अभी तक दीख पड़ते हैं। मिट्टी के बने साधारण चिराग़ तो बहुत प्रचलित थे।

एक प्रकार के वर्तुलाकार बर्तनों पर बहुत से छिद्र बने हैं। कुम्हार के चाक से निकालकर गीली अवस्था में ही तुरंत इन बर्तनों पर छिद्र कर दिये जाते थे। ये बर्तन बहुत बड़ी संख्या में हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो में मिले हैं। सर आरियल स्टीन को इसी प्रकार के एक बर्तन (जो उन्हें बलूचिस्तान में मिला था) पर कुछ राख तथा कोयला मिला था। अनुमान किया जाता है कि शीत ऋतु में इन बर्तनों से हाथ आदि गरम किये जाते थे।

सिंधु प्रदेश तथा पंजाब के अन्य प्रागैतिहासिक स्थानों में रहनेवाले लोग पशु-पक्षियों का शिकार भी करते थे। उस समय अधिक वर्षा के कारण नगरों के निकट कई जंगल रहे होंगे। आजकल की ही तरह अवकाश पाकर उस काल में भी लोग प्रायः शिकार खेलने चले जाया करते रहे होंगे। दो ताबीज़ों में धनुष के द्वारा कुछ मनुष्य एक बड़े हिरन तथा जंगली बकरे को मारने का यत्न कर रहे हैं। हिरन के शिकार का दृश्य तो बड़ा ही प्रभावोत्पादक है। इसमें एक ओर तो एक बड़ा हिरन जिसके लम्बे सींग हैं खड़ा है। दूसरी ओर तीन मनुष्य जो दूरी निदर्शन की अज्ञानता से एक पंक्ति में ही खड़े अंकित कर दिये गये हैं, इस पशु पर धनुष तानकर तीर छोड़ रहे हैं। पंखों से आच्छादित दो तीर तो पशु के पैरों पर चुभ भी गये हैं।[४] एक अन्य ताबीज़ में सिर पर पंख तथा सींग धारण किये एक व्यक्ति खड़ा है। इसके हाथ में भी एक धनुष है। संभव है पशुओं को धोखा देने के लिए ही इस शिकारी ने ऐसा वेश बनाया हो।

शिकार में कुत्ते भी प्रायः काम आते रहे होंगे। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में कई कुत्तों

---

[१] आ० स० रि०, १९२८-९, पृ० ४९ [२] काला, टे० फि० कौ०, चि० ४-६
[३] किंग, ए हिस्ट्री आव् बेबीलोनिया, पृ० १२६ [४] मैके, फ० ए० मो०, जि० १, पृ० २९६

के खिलौने प्राप्त हुए हैं। इनमें कुछ तो शौक मात्र के लिए पाले जाते थे। कुछ कुत्ते जिनके गलों में मोटा पट्टा पड़ा है, शिकार के काम आते थे। मकानों की चौकसी के लिए कभी-कभी आँगन में खूटों पर कुत्तों को बाँधा जाता था। यह एक खंभे पर बँधे कुत्ते के उदाहरण से ज्ञात होता है।[1] धनुष उस काल में शिकार खेलने का प्रमुख शस्त्र था। बाणों के अनेक सिर खुदाइयों में निकले हैं। ये प्रायः ताँबे के हैं और इनका एक भाग लकड़ी के सिंकचे में ठूँस दिया जाता था। इनकी लम्बाई-चौड़ाई औसतन १.१६"×०.६४"×०.०७" है और इनको ताँबे की पट्टियों में से काटा जाता था। यहाँ पर यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि संसार की अन्य तत्कालीन सभ्यताएँ बाणों के ऐसे सिरों से विज्ञ नहीं थीं। गुलेल का भी प्रचार ज्ञात होता है। इनमें प्रायः दो प्रकार की गोलियाँ, गोलाकार तथा अंडाकार व्यवहृत होती थीं। गोलियाँ हाथ से बनाकर फिर अच्छी तरह से पकाई जाती थीं। कुछ गोलियाँ धनुष के द्वारा फेंकी जाती थीं। इस प्रकार की गोलियों को फेंकने की प्रथा सुमेर तथा तुर्किस्तान में भी थी।[2] घोंघे की कुछ अलंकृत गोलियों का भी संभवतः ऐसा ही प्रयोग होता रहा हो।

भालों के फल, चाकू तथा कटार भी खुदाई में सभी प्रमुख प्रागैतिहासिक स्थानों से मिले हैं। इन शस्त्रों में इतनी समानताएँ हैं कि उनके वास्तविक रूप को निकालना कठिन हो जाता है। भालों के कुछ फल कम चौड़े तथा बहुत ही पतले हैं। ज़रा भी दबाव से ये फल मुड़ सकते थे। ऐसा ज्ञात होता है कि इन फलों को मज़बूत करने के लिए इन्हें लकड़ी पर बैठाया जाता था। मोहें-जो-दड़ो में सबसे बड़े भाले के फल की लम्बाई-चौड़ाई १५.३"×४.८" है। इसकी मोटाई ०.१५ इंच है। फल पर लकड़ी कसने के लिए दो छिद्र भी बने हैं। तिकोने ताँबे के फल तो बर्छियों के काम आते रहे होंगे। कुछ शस्त्र तो निस्संदेह छुरी तथा चाकू का काम देते थे। इनमें कई उदाहरण दृढ़ तथा लम्बे आकार में हैं। संभव है इनको चमड़े के केस पर रखकर फिर कमर-पेटी से लटका दिया जाता रहा हो। मोहें-जो-दड़ो में सबसे अधिक प्रचलित जो चाकू हैं वे पत्ते की शकल के हैं। इनमें दोनों ओर धार बना दी गई है। एक पीतल के उदाहरण के अतिरिक्त और सभी चाकू ताँबे के बने हैं। इन चाकुओं के फल मूँठ के पास अधिक मोटे हैं। एक चाकू में भाग्य-वशात् लकड़ी की मूँठ का एक हिस्सा रह गया है। इस मूँठ पर तीन छिद्र बने हैं। मोहें-जो-दड़ो में यह बड़े महत्त्व की वस्तु मिली है।[3] कटारें भी प्रायः ताँबे की ही बनती थीं। इनके लिए कोई लकड़ी के फल नहीं बने थे। कटारें भी अधिक मोटी नहीं हैं। हड़प्पा में अभी तक केवल पाँच चाकू या कटारें प्राप्त हुई हैं। सिंधु-सभ्यता के लोग तलवारों का भी प्रयोग करते थे। तलवारों में धारें दोनों ओर दीख पड़ती हैं। तोल में भी भारी हैं। मोहें-जो-दड़ो में ४.७" लंबी दराती जैसी एक वस्तु भी मिली है। अनेक प्रकार की आरियाँ भी मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में मिली हैं। इनसे लकड़ी, घोंघे आदि को चीरने का काम लिया जाता रहा होगा। पीतल की १८.३" लम्बी एक आरी है। इस पर बेंठ भी लगी थी और इसके दाँत अभी तक वर्तमान हैं।

छेनियाँ भी मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में प्रचलित थीं। ये अधिकतर ताँबे की बनी हैं। इनसे मुलायम पत्थर या लकड़ी कुरेदी जाती रही होगी। बर्मे का भी एक टुकड़ा मिला है। शायद इसके मोटे सिरे पर कोई बेंट लगी थी।

खुदाइयों में मछली मारने के बहुत से काँटे मिले हैं। मछलियाँ प्रायः सिंधु नदी या

---

[1] मैके, फ० ए० मो०, पृ० २८६ [2] मार्शल, मो० इ० सि०, जि० २, पृ० ४६६
[3] मैके, फ० ए० मो०, जि० १, पृ० ४६४

उसकी शाखाओं में मारी जाती होंगी। ये प्रायः सिरे पर मुड़े होते थे जहाँ पर कि एक छिद्र भी बना रहता था। मैके कहते हैं कि मोहें-जो-दड़ो की नुकीली कटिया संसार के इतिहास में अद्वितीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि छोटे-मोटे पशुओं को फँसाने के लिए जालों का प्रयोग भी होता था।

प्रति-दिन काम में आनेवाली कई वस्तुएँ खुदाई में मिली हैं। इनमें अधिकतर खण्डिता-वस्था में पाई गई है। सख्त पत्थर के बने कई सिलहट हड़प्पा और मोहें-जो-दड़ो में प्राप्त हुए हैं। इनको फ़र्श पर दृढ़ता से बैठाया जाता होगा। ये सिलहट बीच में बहुत घिसे हैं। जान पड़ता है इनका विशद प्रयोग किया जाता रहा होगा। इनमें मसाले आदि पदार्थ पीसे जाते रहे होंगे। हड़प्पा से भी चार पैरों वाले तथा साधारण सिलहट मिले हैं। सबसे लंबा सिलहट हड़प्पा में ३३" था।[1] लोढ़े भी दो प्रकार के थे। एक तो इनमें वर्तुलाकार थे। दूसरे ढङ्ग के लोढ़ों को चार भागों में चारों ओर से कोर कर बनवाया गया था। यह लोढ़े प्राकृतिक पत्थरों के ही अधिकतर होते थे। इनके तले तथा सिरे से ही प्रायः काम लिया जाता था। पत्थर के कुछ समतल सिलहट भी थे। वे प्रायः काले रंग के स्लेटी पत्थर के बने थे। मार्शल का अनुमान है कि इन पर गेरू या अन्य प्रसाधन के पदार्थ पीसे जाते थे। चकमक पत्थर के बहुत से टुकड़े मोहें-जो-दड़ो में मिले हैं। इनमें कुछ पैने हैं और संभव है ये मांस आदि काटने के लिए प्रयोग में आते रहे हों। चकमक के तीन ऐसे पत्थर हैं जो शायद खेती के लिए काम आते थे। तश्तरी को कोरने का पत्थर का एक अद्भुत हथियार भी मोहें-जो-दड़ो में मिला है। इस पर कोई काँटेदार वस्तु भी जड़ी होती थी। इसको पेंदे पर घुमाकर ही प्रायः तश्तरियाँ कोर दी जाती रही होंगी। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में पत्थर के कई बर्तन भी मिले हैं। इनमें कुछ तो बड़ी कुशलता के साथ बने हैं। दो अन्य पत्थर के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि मोहें-जो-दड़ो में पत्थर कतरने का काम भी होता था। यह बात स्मरण रखने की है कि सिंधु सभ्यतावालों ने पत्थरों का बहुत कम प्रयोग किया। जान पड़ता है कि पत्थर को यहाँ के तक्षक उचित ढङ्ग से काट नहीं सकते थे क्योंकि कई उदाहरणों में देखा गया है कि पत्थर थोड़ा सा काटकर छोड़ दिया गया है। अधिकतर पात्र खरिया या खटिक के ही बने हैं। इनमें मोटा तथा तरल पदार्थ नहीं रक्खा जा सकता था। शृंगार संबंधी पदार्थों के रखने के लिए बने पात्रों को बर्मा से ही करेदा गया होगा। चीनी मिट्टी के छोटे-छोटे बर्तन तो बहुत बड़ी संख्या में सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा में मिले हैं। छिद्रवाले छोटे-छोटे पात्रों से संभव है छन्नी का काम लिया जाता था। काले लाल रंग की मिश्रित चूने के पत्थर में बनी एक सुंदर तश्तरी मोहें-जो-दड़ो में मिली है। कुछ पत्थर के पात्र तो ठीक मिट्टी के बर्तनों की तरह हैं। पत्थर की कुछ डिबियें भी दर्शनीय हैं। इनके अंदर चार खाने बने हैं। एक डिबिया के बाहर रेखाओं का सुंदर आलंकरण भी हुआ है। तुलना करने पर ज्ञात होता है कि हड़प्पा में पत्थर के बहुत थोड़े से पात्र बनाये गये थे। इनमें भी अधिकतर खटिक के बने हैं। चूने के पत्थर की एक बड़ी तश्तरी का आधार उल्लेखनीय है।[2] चीनी मिट्टी तथा पत्थर के कई आधार भी हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो में मिले हैं। इनका क्या वास्तविक प्रयोग था यह कहना कठिन है।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में धातु के भी कुछ बर्तन मिले हैं। दोनों स्थानों के निवासियों को पीतल और ताँबे का ज्ञान था। ऐसा प्रतीत होता है कि नगर छोड़ते समय मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा के निवासी धातुओं के बहुत से बर्तनों को अपने साथ ही ले गये थे, क्योंकि ये मूल्यवान् धातुओं से बने थे। अधिकतर बर्तनों के गले ऊँचे नहीं हैं। पेंदा भी प्रायः समतल ही बनाया

[1] वत्स, ए० इ०, जि० १, पृ० २९७ [2] वत्स, ए० इ०, जि० १, पृ० ३१०

जाता था जिससे कि वे आसानी के साथ फ़र्श पर टिक सकें। धातु को हथौड़े से खूब पीटा जाता था। कुछ बर्तनों के ढकने भी होते थे। ऐसे ही ढकनेदार एक बर्तन के अंदर कार्नीलियन गुरियों का एक हार तथा सुवर्ण एवं चाँदी के आभूषण मिले थे। पीतल की एक मोटी तश्तरी के ऊपर मूँठ सहित एक ढकना भी जुड़ा पाया गया था। यह तश्तरी आजकल के पाउडरदानों से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। मोहें-जो-दड़ो में अनेक धातुओं की तश्तरियाँ मिली हैं। इनके किनारे चारों ओर से थोड़े-थोड़े मोड़ दिये गये हैं। इनमें कुछ तो संभवतः बड़े-बड़े बर्तनों को ढाँकने के काम में आती थीं। जिन तश्तरियों की धातु मोटी है वे तो निस्संदेह भोजन खाने के लिए बनी थीं। खुदाई में मूँठ सहित एक थाली भी मिली है। इसमें पदार्थ आदि तले जाते रहे होंगे। सीसे की अभी तक केवल एक छोटी सी तश्तरी देखने में आई है।[1] यह मोहें-जो-दड़ो के निम्न स्तर से प्राप्त हुई थी। कभी-कभी बर्तनों को दो अलग-अलग हिस्सों में बनाकर फिर जोड़ा जाता था। अधिकतर बर्तनों के नीचे का भाग पतला ही होता था। हड़प्पा में ताँबे के सुंदर आकार के प्याले और तश्तरियाँ भी मिली हैं।

चाँदी के पात्रों का अधिक प्रचलन नहीं मालूम देता। अधिकतर पात्र तो आभूषण रखने के ही हेतु बने थे। सबसे सुंदर कलशी दीक्षित को मोहें-जो-दड़ो में मिली थी। यह ८·२५" ऊँची ढकनेदार है। हड़प्पा में भी चाँदी का खुले मुँह का पात्र मिला था। देखने से पता चलता है कि इसको बाहर और भीतर छोटी हथौड़ी से पीटकर बनाया गया था।

खुदाइयों में लोहे को गलाने तथा ढालने के कोई कारखाने अभी तक नहीं निकले हैं। किंतु कुछ ढाँचों तथा गले धातु के टुकड़ों से ज्ञात होता है कि सिंधु-सभ्यता के लोग धातु बनाने के विभिन्न प्रयोगों से परिचित थे।

कई मकानों के फ़र्शों के नीचे औज़ार, हथियार तथा बर्तनों के ढेर गड़े मिले हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि किसी भारी आक्रमण की आशङ्का से वहाँ के निवासियों ने इन वस्तुओं को भूमि में गाड़ दिया था। धातु सरलता से उपलब्ध नहीं होती थी, और मोहें-जो-दड़ो निवासी सदैव इस प्रयत्न में रहे होंगे कि ऐसी वस्तुएँ अधिक से अधिक संख्या में बच सकें। किन्हीं कारणों से वे फिर इन वस्तुओं को निकाल नहीं सके।

धातु की अन्य वस्तुओं में आरी, तलवार तथा कुल्हाड़ियों के फल आदि हैं। मोहें-जो-दड़ो में ताँबे तथा पीतल की कुछ आरियाँ मिली हैं। इन आरियों का आकार तथा शैली बिल्कुल आजकल की आरियों जैसी है। इनमें एक ताँबे की आरी १६·६" लंबी है। यह कई अन्य हथियारों के साथ एक फ़र्श के नीचे दबी मिली थी। पीतल की आरी १८·३" लंबी है। इन दोनों में मूँठें लगी रही होंगी। आरियों के दाँत एक समान नहीं काटे गये हैं। यहाँ पर यह बतलाना भी आवश्यक है कि इस शैली की आरियों के कोई फल अभी तक इलम या सुमेर में नहीं मिले। मूँठ के लिए बीच में छिद्र सहित पीतल की एक गैंती भी मोहें-जो-दड़ो में प्राप्त हुई है। यह लगभग १०" लंबी है। मोहें-जो-दड़ो में यह अपने ढंग का पहला हथियार है। इसी तरह की गैंतियाँ काकेशिया में कुबन नदी के मुहाने पर भी मिली थीं।[2] किंतु मैके का अनुमान है कि यह गैंती कुषाण-कालीन है। मोहें-जो-दड़ो के अतिरिक्त छिद्रवाले हथियार कई और प्राचीन देशों के लोगों को भी ज्ञात थे। इसके प्रमाण में मिट्टी के बने तीन छिद्रवाले हथियार प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इनमें एक के ऊपर तो ताँबे जैसा रंग भी लगा था।

---

[1] मैके, फ़० ए० मो०, जि० १, पृ० ४६० [2] मैके, अ० इं० सि०, पृ० ६६

पशु पक्षियों को लड़ाने का प्रदर्शन सिंधु प्रदेश तथा पंजाब के निवासियों के आमोद-प्रमोद का एक अंग था। एक तावीज़ में दो जंगली मुर्गों को लड़ाने का दृश्य अंकित है। इसके अतिरिक्त बाघ और अन्य पशुओं की लड़ाई के दृश्य भी देखने को मिलते हैं। पिंजड़ों में भी प्रायः पालतू पक्षी रक्खे जाते थे।

पशु तथा पक्षियों का मानव जीवन से गहरा संबंध रहा है। उसे अपने जीवन के द्वन्द्व में इनसे यथेष्ट सहायता मिलती रही है। उपयोगी कार्यों में हाथ बँटाने के अतिरिक्त कई पशु-पक्षी मनुष्य के दिल-बहलाव की सामग्री बन गये। हमारा समस्त प्राचीन साहित्य पशु-पक्षियों के नाना क्रीड़ा-कलापों से ओतप्रोत है। ऐसे मनोविनोद की छाया बाणभट्ट की कादम्बरी में प्रायः मिल जाती है।[१] मृच्छकटिक में भी शूद्रक ने अनेक ऐसे पशुओं का उल्लेख किया है जो क्रीड़ा के प्रमुख साधन थे।[२]

फलकों पर खेले जानेवाले खेल सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा निवासियों को ज्ञात थे। चौपड़, पाँसा तथा शतरंज की तरह के खेल उन लोगों को अधिकतर पसंद थे। पाँसे की गुट्टक प्रायः हाथी दाँत या मिट्टी की बनती थी। इनमें एक के सम्मुख दो, तीन के सामने चार तथा पाँच के सामने छः बिंदियाँ अंकित हैं। यह गिनती या अनुपात विचित्र सा लगता है। कुछ में गोल वृत्त मात्र बने हैं। मिट्टी की एक गुट्टक पर गुरियाएँ जड़ी थीं। इन्हीं से १, २, ३, संख्याओं के विरुद्ध ४, ५, ६ संख्याएँ दिखलाई गई थीं। इन गुट्टकों के बनाने में बड़ी कुशलता से काम लिया गया है। दूसरे प्रकार की गुट्टकें चौकोर थीं। इनका विशेष प्रचलन ज्ञात होता है। ये गुट्टकें प्रधानतया हाथी दाँत की ही बनती थीं। इनमें तीन ओर तो १, २ तथा ३ संख्याएँ दिखाई जाती थीं। बाकी दिशाओं में लंबी रेखाओं का सादा चित्रण रहता था। लगातार प्रयोग में लाने के कारण ये गुट्टकें घिसकर बहुत चमक गई हैं, किंतु फिर भी ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने से ज्ञात हो जाता है कि उनको विशेष विधि से बनाया गया था। इनमें जो अलंकरण है वह हल्की रेखाओं के द्वारा हुआ है। इन रेखाओं पर कभी-कभी काला रंग भी दीख पड़ता है।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में लिंग की तरह की कई वस्तुएँ मिली हैं, जिन्हें कि शतरंज के प्यादे माना जा सकता है। ये कई आकार तथा शैलियों में प्रत्येक स्तर से प्रचुर मात्रा में मिले हैं। इनमें कुछ तो मिट्टी के ही बने हैं। किंतु बहुत से सुलेमानी पत्थर तथा अन्य मूल्यवान् पत्थरों के हैं। मार्शल इनमें से बहुतों को लिंग मानते हैं।[३] इसकी पुष्टि में एक बात तो अवश्य प्रत्यक्ष है कि जितने भी ये प्यादे मिले हैं उन सभी का आकार भिन्न-भिन्न है। इन लिंगों में कुछ का सिरा गोल, कुछ का नुकीला तथा कुछ का पटा हुआ है। चारों ओर से बराबर कटे प्यादों का विशेष प्रचलन मालूम होता है। इसी शैली का एक प्यादा पीतल का भी बना है। पीतल के माध्यम में प्यादे का बनाया जाना आश्चर्यजनक है, क्योंकि सुमेर में ठीक इसी शैली के जो प्यादे मिले हैं वे भी पत्थर के बने हैं। पिरामिड शैली का केवल एक ही उदाहरण मोहें-जो-दड़ो में मिला है।[४]

इन पाँसों या प्यादों के खेल के लिए लकड़ी की तख्तियाँ या कपड़े के टुकड़े बने रहे होंगे। गैर टिकाऊ पदार्थ होने के कारण इनका खुदाइयों में प्राप्त होना असंभव है। अनेक घरों में हड्डी, हाथी दाँत तथा सीपी के छोटे-छोटे टुकड़े प्राप्त हुए हैं। संभव है तख्तियों की रेखाओं के

---

[१] कादम्बरी (नि० सा० प्रे०), पृ० १७२ [२] मृच्छकटिक, ४ [३] मार्शल, मो० द० इं० सि०, जि० १, पृ० ५६-६० [४] मैके, फ० ए० मो०, जि० १, पृ० ५७२-३

लिए इनमें से कुछ का प्रयोग हुआ हो। उर में तो कई ऐसी तख्तियाँ मिली हैं, जिनमें ऐसे टुकड़ों का प्रयोग हुआ है।

मोहें-जो-दड़ो में दो ऐसी ईंटें मिली हैं जिन्हें कि हम "गेम बोर्ड" मान सकते हैं। इनमें एक का आकार १०·७″×५·८३″×२·६४″ इंच है। ईंट की एक ओर चार पंक्तियों के द्वारा उसकी सतह का विभाजन कर दिया गया है। इन्हीं विभाजित भागों के एक ओर चार पंक्तियों में चौकोर गड्ढे बने हैं। ईंट का एक कोना टूट गया है, जिससे यह बतलाना कठिन है कि सब मिलाकर कितने गड्ढे थे। वर्त्तमान अवस्था में तो इसमें पंद्रह गड्ढे ही रह पाये हैं। मिश्र देश में भी ऐसे गड्ढे-वाले कुछ बोर्ड पाये गये हैं।

दूसरी ईंट भी खंडित रूप में पाई गई है। इसके एक ओर कई आयताकार खाने, साधारण पंक्तियों से अंकित कर दिये गये हैं। मैके का अनुमान है कि यह ईंट कहीं फर्श पर गड़ी थी और इसकी पंक्तियाँ और ईंटों से जोड़कर पूरी होती होंगी। यदि यह अनुमान ठीक है तो संभव है मोहें-जो-दड़ो निवासी भी मिश्र देश के "सेन्ट" नाम के खेल को जानते थे।[1] मेसोपोटेमिया में भी ऐसी ही पंक्तियों का एक बोर्ड मिला था।

मोहें-जो-दड़ो में कई संगमरमर की गोलियाँ तथा घन आकार के छोटे पत्थर मिले हैं। ये मूल्यवान् वस्तुएँ जैसे सुलेमानी पत्थर, सूर्यकांतमणि, साधारण तथा चूने के पत्थर में बड़ी सुंदरता के साथ कटी हैं। इन गोलियों तथा घनाकार पत्थरों का वास्तविक प्रयोग क्या था, यह बतलाना कठिन है। यह निश्चित है कि इन वस्तुओं का असाधारण महत्त्व था, क्योंकि ऐसी एक गोली मूल्यवान् आभूषणों के साथ भी पड़ी मिली थी। गोलियों पर पालिश करने से पहले इनकी सतह पानी के साथ रेत से रगड़ी जाती रही होगी। सीपी की गोलियाँ भी बड़े परिश्रम के साथ काटी गई थीं। इनके ऊपर एक दूसरे को काटते हुए उभरे वृत्त बने हैं। मोहें-जो-दड़ो से मछलियों की हाथी दाँत में बनी कुछ चपटी आकृतियाँ भी मिली हैं। इनमें अंकित रेखाओं पर भी काला तथा लाल रंग भरा रहता था। बनावट में ये अति साधारण हैं और कुछ उदाहरणों में अधिक घिसे जाने के कारण ज्ञात होता है कि ये भी खेल में प्रयुक्त होते थे।

मोहें-जो-दड़ो में सीपी तथा मिट्टी की कुछ लंबी नुकीली वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। ये नुकीले कोण औसतन २·७५″ से ३″ तक ऊँचे हैं। इनका आकार प्रायः मूली की तरह है। तले पर कहीं-कहीं घुमावदार रेखाओं का अंकन है। कुछ उदाहरणों में पेंदा समतल बनाया गया है। इसी शैली के दो-चार कोण सीपी में भी बने हैं। इन कोणों के पेंदे पर कभी-कभी छिद्र भी दीख पड़ते हैं। नुकीले सिरे प्रायः टूटे हुए हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि ये कोण किसी खेल में काम आते थे। बिना अलंकरण के ठीक इसी ढङ्ग के कोण मेसोपोटेमिया के जमदेत नस्र नामक स्थान में भी मिले हैं। इस बात का उल्लेख करना उचित होगा कि कुछ ऐसे ही कोण पत्थरों में भी बनाए गये थे। इनमें कुछ के सिरे गोल बनाकर उन पर फिर पालिश की गई थी।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में प्रत्येक स्तर से बहुत सी तावीजें तथा मुद्राएँ मिली हैं। ये सभी सिखारी में दस विभिन्न शैलियों तथा आकारों में काटी गई हैं। इनमें पशु के अतिरिक्त एक या दो पंक्तियों में चित्रलिपि भी अंकित है। इन मुद्राओं को आजकल की ही तरह मिट्टी या लाख जैसे पदार्थ पर छापा जाता रहा होगा। सिखारी के अतिरिक्त कुछ वर्तुलाकार मुद्राएँ हाथी दाँत की भी बनी थीं। कुछ मुद्राओं में तागे या डोरी डालने के लिए छिद्र बने थे। बटन की तरह

---

[1] मैके, फ० ए० मो०, जि० १, पृ० ५७५

मुद्राएँ, जिन पर पीछे की ओर से थोड़ी सी ऊँचाई पर छिद्र बने हैं, सिंधु प्रदेश में मिली हैं। ये प्रायः ठप्पों से निकली हुई हैं और कभी-कभी इनको वास्तविक मुद्राएँ मानने में संदेह होता है। पत्थर की मुद्राएँ चारों ओर से किसी तेज़ आरी से काटी जाती थीं। इनके पिछले भाग में चौकोर पीठिका छोड़ दी जाती थी। पशुओं के शरीरों को अंकित करने में बर्मे का कम ही प्रयोग होता था। प्रायः सभी प्रकार की मुद्राओं में ऊपर से एक चमकीली पालिश कर दी जाती थी। यह पालिश कौन सी थी इसका पता नहीं चल पाया है। ऐसा ज्ञात होता है कि बहुत सी मुद्राओं पर भट्टे में डाले जाने से पहले पालिश कर दी जाती थी।

अभी तक मोहें-जो-दड़ो में दो चार ही वास्तविक मुद्राएँ मिली हैं। मुद्राएँ मिट्टी जैसे किसी दुर्बल पदार्थ पर लाख की तरह छापी जाती रही होंगी। अभी तक कोई भी ऐसा उदाहरण देखने में नहीं आया जिसे हम तावीज़ मान सकें। केवल सात उदाहरणों से ज्ञात होता है कि वे मुहर द्वारा छापे गये थे। अन्य मुहरों का कैसा प्रयोग होता था यह ज्ञात नहीं है किंतु मैके का अनुमान है कि इनमें बहुत सी तावीज़ के रूप में प्रयोग में आती थीं।[1] इन तावीज़ों में कोई छिद्र नहीं बने हैं और यह समझ में नहीं आता कि इनको शरीर पर कैसे धारण किया जाता था। बहुत संभव है कि ये तावीज़ें किसी बटुए या थैले में रक्खे जाते रहे हों। तावीज़ें अधिकतर चीनी मिट्टी या साधारण मिट्टी के बने हैं और इनके लिए ठप्पों का प्रयोग होता था। मिट्टी में तावीज़ अच्छी तरह पकाये गये हैं और इनके ऊपर प्रायः एक लाल रंग की पालिश कर दी जाती थी। इन तावीज़ों में अंकित दृश्य बड़े रोचक हैं। मिट्टी के एक तावीज़ पर दाईं ओर पूँछ उठाये पशु खड़ा है। बाईं ओर पेड़ पर बैठे एक मनुष्य को नीचे से बाघ देख रहा है। कुछ बाएँ हटकर स्वस्तिक तथा हाथी का चित्रण दीख पड़ता है। दूसरे तावीज़ में सिर पर सींग तथा हाथों में बाज़ूबंद धारण किये दो वृक्षों के बीच एक पुरुष खड़ा है। उसके बायीं ओर गले में माला पहिने एक बकरा खड़ा है। मुद्रा में झुकी हुई सींग पहिने एक आकृति तथा भेंट की वस्तुओं को रखने की तिपाई भी है। मिट्टी के एक अन्य तावीज़ में चारों ओर कौतूहलप्रद दृश्य अंकित हैं। इसमें एक ओर तो हाथ में बिल्ली जैसे पशु को लिए एक मनुष्य पेड़ पर बैठा है दूसरी ओर एक पंक्ति में हाथी, नीलगाय तथा वृषभ आदि पशु दिखलाये गये हैं। बाईं ओर पिरामिड की तरह कोई वस्तु है, जिसके दोनों ओर लम्बे सींगोंवाला बकरा-सा कोई पशु दीख पड़ता है। वृक्ष से कई वस्तुएँ झूलती अंकित की गई हैं। संभव है यह कल्प-वृक्ष की कल्पनामात्र हो। इसमें अन्य दृश्य भी अंकित हैं, किंतु घिस जाने से उनके रूप का ठीक पता नहीं चल पाया है। कई तावीज़ों में क्रूश बना है।

मैके को मोहें-जो-दड़ो में एक अति सुंदर तावीज़ मिला है। इसका निर्माण ठप्पों से निकाले हुए दो अलग-अलग चित्रित भागों को जोड़कर हुआ था। इसके एक ओर तो केवल मुड़ी रेखाओं का अलंकरण है। ऐसी अलंकरण-शैली सुमेर में बहुत प्रचलित थी। दूसरी ओर का चित्रण अनूठा है। इसमें बाईं ओर एक कलशी अंकित है। इसी रूप की एक चाँदी की कलशी मोहें-जो-दड़ो की खुदाइयों में मिली है। इसके बाद एक मनुष्य पेड़ पर बैठा दिखलाया गया है। नीचे भूमि पर बाघ जैसा पशु चलता दीख पड़ता है। दाईं ओर दो मनुष्य या तो दो वृक्षों का रोपण कर रहे हैं या वृक्ष को चीरकर उसके अंदर से वृक्ष देवता को निकालने का प्रयत्न किया जा रहा है। देवता के दोनों हाथ फैले हैं, जिससे ज्ञात होता है कि

[1] मैके, फ० य० मो०, जि० १, पृ० ३४६

वह आशीर्वाद दे रहा है। यह ताबीज़ किस विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए पहना जाता था यह बतलाना कठिन है।

चीनी मिट्टी की एक अन्य मुद्रा में भी एक कौतूहलप्रद दृश्य अंकित है। मध्य में एक ओर लंबी पूँछ तथा चार पैरोंवाला पशु खड़ा है। इस पशु के दोनों ओर नीचे मुँह किये दो बैल खड़े हैं। बैलों की मुद्रा से ज्ञात होता है कि वे मध्य में खड़े पशु पर धावा करने के लिए तत्पर हैं। निचले भाग में दाईं ओर मुँह किये हाथी खड़ा है। इसके सामने पीछे की ओर मुँह मोड़े एक बाघ है। ताबीज़ की दूसरी ओर तीन बाघ बीच में रस्सी से बँधे दीख पड़ते हैं। मिट्टी के एक अन्य ताबीज़ में एक ओर तो तीन चिह्नों के साथ एक हाथी खड़ा है; दूसरी ओर पंख फैलाये एक पक्षी चित्रित है।

खुदाई में ताँबे की भी बहुत सी मुद्राएँ मिली हैं। इनको भी ताबीज़ ही माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन ताबीज़ों पर जो चित्रलिपियाँ हैं उनका संबंध ताबीज़ों पर अंकित पशुओं से है। इन पर बटी हुई डोरी, दंशी पशु तथा वास्तविक पशु चित्रित हैं। कभी-कभी गाय तथा बैल में भेद निकालना कठिन हो जाता है। एक मुद्रा में छोटी झाड़ी के अंदर एक हिरन है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन ताबीज़ों में सभी उदाहरणों में सब पशु दाईं ओर मुँह किये हुए हैं। केवल थोड़े से उदाहरणों में कुछ पशु पीछे की ओर मुँह मोड़े दीख पड़ते हैं।

ताँबे के ताबीज़ तीन विभिन्न आकारों में बनाये गये थे। लंबे तथा कम चौड़े ताबीज़ों में तो चित्रलिपि मात्र है। समचतुस्र तथा आयातकार उदाहरणों में चित्रलिपि तथा पशु अंकित हैं। इनमें खुदान गहरा नहीं है। इसलिए इनको किसी भी रूप में मुद्रा नहीं माना जा सकता। ताबीज़ों को काटकर इनके कोने फिर किसी पत्थर से घिस दिये जाते थे। ताबीज़ प्रायः लोग कपड़े में बाँधकर पहनते रहे होंगे। यह प्रथा भारत में कई सहस्र वर्षों तक चलती रही। प्राचीन काल के सभी देशों के निवासियों को ताबीज़ों की महत्ता पर विश्वास था, किंतु जैसे-जैसे मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की उसके विश्वास घटते गये। किन्तु कई देशों में आज दिन भी वह विश्वास किसी न किसी रूप में चला आया है।

पाँचवाँ अध्याय

जीवन की झाँकी (२)

सिंधु प्रदेश के लोगों का बौद्धिक जीवन कैसा था, यह बतलाना कठिन है। उनको किन-किन विद्याओं का ज्ञान था तथा साहित्य और दर्शन में उनकी कैसी गति थी इसे जानने के लिए हमें तब तक ठहरना पड़ेगा जब तक कि सिंधु लिपि का वास्तविक रूप प्रकाश में नहीं आता। अभी तक सिंधु प्रदेश के किसी स्थान या हड़प्पा से हाथ से लिखी सामग्री प्राप्त नहीं हो पाई है। अनुमान है कि प्राचीन काल में लिखने के लिए लकड़ी की तख्तियों, छाल तथा चमड़े का प्रयोग होता था। इनका अधिक काल तक सुरक्षित रहना असंभव था इसीलिए इस तरह की कोई वस्तु अभी तक दृष्टि में नहीं आई है। मोहें-जो-दड़ो में मिट्टी की दो तख्तियाँ मिली हैं, जिनके ऊपर संभवतः लिखाई की जाती थी।[1] इन तख्तियों के ऊपर पालिश लगा कर ही प्रयोग किया जा सकता रहा होगा। आजकल की तरह लिखने के पश्चात् इनको धो देने की प्रथा भी रही होगी। इसी आकृति की लकड़ी की पट्टियाँ आज दिन भी पंजाब में प्रचलित हैं। लिखने की पट्टियों के बहुत ही कम उदाहरण भारतीय कला में मिले हैं। गांधार शिल्प के एक सुंदर शिलापट्ट पर भगवान् बुद्ध एक आयताकार 'लिपि-फलक' पर लिखते दिखाई देते हैं।[2] लिखने के लिए कौन-कौन से साधन वर्त्तमान थे यह भी बतलाना कठिन है। चन्हूदड़ो तथा मोहें-जो-दड़ो में दो ऐसे बर्तन प्राप्त हुए हैं, जिन्हें दवात माना जा सकता है। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त दवात तो दुबके भेड़े की आकृति की है। ऐसे बर्तन अन्य देशों में भी मिले हैं, जिन्हें कि विद्वानों ने दवात ही माना है। लिखने के लिए लकड़ी की कलमें प्रयोग में लाई जाती रही होंगी। इस पदार्थ की कलमों का प्रचलन बहुत पहले से मध्य पूर्व के देशों में चला आ रहा था। इसमें संदेह नहीं कि सिंधु सभ्यता के लोग एक सुसंस्कृत जीवन व्यतीत करते थे। उनके कमरे किस ढंग से सजे थे और सजावट के लिए कौन-कौन सी वस्तुएँ काम आती थीं इसके विषय में हमारी जानकारी सीमित है। कला तत्कालीन समाज के जीवन का प्रतिबिम्ब है। सिंधु प्रदेश तथा पंजाब की प्रागैतिहासिक कला के थोड़े से ही उदाहरण देखने में आये हैं। इनमें भी विषय इतने सीमित तथा सूक्ष्म रीति से अंकित हुए हैं कि उस काल के जीवन के किसी अंग की क्षीण छाया तक प्राप्त करना कठिन है। आजकल की ही तरह प्रागैतिहासिक काल के लोग प्रधानतया लकड़ी या अन्य ग़ैर टिकाऊ पदार्थ की बनी क्षणभंगुर वस्तुओं का प्रयोग करते रहे होंगे।

मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त दो खिलौनों के रूप के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि उस काल के लोग सोने के लिए लकड़ी की पलंगों का इस्तेमाल करते थे। इन दोनों खिलौनों में स्त्रियाँ पलंग पर लेटी हैं। इस नमूने के खिलौने सुमेर तथा मिश्र के लोगों को भी ज्ञात थे। मुद्राओं में अंकित एक कुर्सी के पैर बैल के सिर की आकृति के बने हैं। ऐसी शैली की कुर्सियों का मिश्र देश में बहुत प्रचलन था और ऐसा प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग राजघरानों में ही हुआ करता था। कुछ मृण्मूर्तियों की शिरोभूषा के ऊपर भी चार पैरोंवाली तिपाई जैसी वस्तु

[1] मैके, फ० ए० मो०, पृ० ४२० [2] मजूमदार, ए० गा० स्क० इं० म्यू०, जिल्द २, पृ० ४१

रक्खी है। कुछ मुद्राओं में बैठने या वस्तुएँ रखने के लिए चबूतरे या मंच भी दीख पड़ते हैं।

सिंधु सभ्यता वाले बड़े सौंदर्य-प्रेमी थे। उनके द्वारा व्यवहृत आभूषणों का उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं। हड़प्पा से प्राप्त कुछ खिलौनों के सिरों पर पुष्प जड़े हैं। यह प्रथा आज तक भी (विशेषकर दक्षिण भारत में) चली आ रही है। शुंगकालीन मृण्मूर्त्तियों में हम देखते हैं कि स्त्रियों की शिरोभूषा पूर्णतया पुष्पों से आच्छादित है। कुछ आकृतियाँ सिर पर नुकीली टोपी भी धारण किये हैं। टोपी का नुकीला भाग जो संभवतः कपड़े का होता था प्रायः एक ओर लटकता दीख पड़ता है। नुकीली टोपी को स्त्री-पुरुष दोनों ही पहनते थे। टोपी एक फीते से बँधी रहती थी ताकि वह गिर न सके।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा की सभ्यता के अवशेषों में कोई ऐसा संकेत नहीं है जिससे कि परदे की प्रथा पर प्रकाश पड़ सके। सभी दृश्यों में स्त्रियों के चेहरे खुले हैं। भवनों से भी कुछ पता नहीं चलता कि उनके निर्माण में पर्दे का ध्यान रक्खा गया था। वैदिक युग में भी जो कि सिंधु सभ्यता के बाद आया, परदे की प्रथा नहीं थी।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा से दो छोटे-छोटे मृत्पात्र मिले हैं, जिनकी बनावट से पता चलता है कि वे लकड़ी, बेंत या बाँस की बनी टोकरियों के अंकण हैं।[1] मिट्टी के एक ताबीज़ में अंकित स्त्री के हाथ में भी टोकरी जैसी वस्तु है। मिट्टी के एक खंडित पात्र की ऊपरी सतह पर स्तंभों से झूलती कुछ टोकरियाँ चित्रित की गई हैं।[2] मिट्टी के अनेक पात्रों पर बुनाई जैसा अलंकरण हुआ है। मोढ़े जैसी कुछ वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। पर्दे तथा चटाई का भी प्रयोग बराबर होता था। यह चटाई मोटे रेशों या पटसन की तरह के रेशों से बनती थीं। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त दो मुद्राओं पर चटाई की छाप दीख पड़ती है। खंडित मकानों के फ़र्श पर जो कहीं-कहीं पलस्तर मिला है उस पर भी लकड़ी के पतले भागों से बुनी चटाइयों की छाप दीख पड़ती है।

सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा के निवासियों का सार्वजनिक जीवन क्या था यह बतलाना कठिन सा है। किंतु अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ के लोगों का जीवन सुसंगठित तथा सहयोग का रहा होगा। प्रायः सभी स्थानों से प्राप्त वस्तुओं से ज्ञात होता है कि किसी केंद्रीय शासन के द्वारा वहाँ के व्यापार तथा नागरिक जीवन पर नियंत्रण रक्खा जाता था। एक मकान के ऊपर दूसरे के बार बार बनाये जाने से प्रमाणित होता है कि वहाँ हिस्सेदारी भूमि वितरण जैसी कोई प्रथा थी। हड़प्पा के अन्न-भंडार से भी प्रत्यक्ष है कि उस काल में आजकल की तरह आकस्मिक अवसरों के लिए अन्न इकट्ठा किया जाता था। वह यंत्र का युग नहीं था। इस कारण श्रमकारों द्वारा विभिन्न व्यवसाय चलते थे। आगे चलकर हम देखेंगे कि श्रमिक वर्ग के लोगों के लिए नगर से बाहर पंक्तिबद्ध मकान बनाये गये थे। हड़प्पा के कुछ मकानों से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वहाँ के लोग सामूहिक तथा संघ-रूप में एकत्र होकर पूजा या उपासना किया करते थे।

सिंधु-सभ्यता के दो प्रमुख नगरों, मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा की शासन-व्यवस्था के विषय में भी हमारी जानकारी नहीं के ही बराबर है। मैके कहते हैं कि मोहें-जो-दड़ो एक प्रतिनिधि शासक के अधीन था। किंतु पिगट इस धारणा से सहमत नहीं होते। उनका विचार है कि इन

---

[1] मैके, फ० ए० मो०, जि० १, पृ० २१० [2] ए० रि० आ० स० इं०, १९२७-८, चि० ३४ (एफ)

नगरों की शासन-प्रणाली में धार्मिक प्रभाव थे।[1] दोनों नगरों में अलग-अलग किले थे, जहाँ से कि शासन-संचालन किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहित-वर्ग का यहाँ के शासकों पर किसी-न-किसी प्रकार का प्रभाव अवश्य था। हड़प्पा के किले का उल्लेख करते हुए डा० मार्टिमर ह्वीलर ने लिखा है "...... उनके संचालन का सूत्र चाहे जिन हाथों में रहा हो, किंतु यह उचित अनुमान है कि इस संचालन में धर्म का कुछ न कुछ भाग अवश्य था। ये शासक सुमेर तथा अक्कड के पुरोहित-राजाओं तथा उनके प्रतिनिधियों की ही तरह थे।[2]"

केंद्रीय शासन के द्वारा ही इन नगरों का संचालन विभिन्न अधिकारियों द्वारा होता था। पुरातत्त्व विभाग द्वारा खोदी गई सड़कों तथा भवनों से ज्ञात होता है कि उनमें युग-युगों तक किसी भी प्रकार की छेड़खानी नहीं होने पाई थी। शासन की इतनी सुंदर तथा दृढ़ व्यवस्था थी कि नगरों की रूपरेखा में शासक-परिवर्तन का किसी भी प्रकार से प्रभाव नहीं पड़ सका।

जान पड़ता है कि सुचारु प्रबंध के लिए इन नगरों को कई भागों में बाँट दिया गया था। ये भाग आजकल की नगरपालिका के अंगों की ही तरह रहे होंगे। प्रत्येक भाग की रखवाली के लिए एक एक रक्षक नियुक्त रहा होगा। इन रक्षकों के रहने के लिए सड़कों के कोनों पर मकान बने थे। एक सड़क को बीच में दीवार रखकर दो भागों में विभाजित कर दिया गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि शासन संबंधी किसी नियंत्रण या सुगमता के हेतु ही ऐसा विभाजन किसी समय कर दिया गया था। सड़कों पर प्रकाश का भी प्रबंध रहता था।

स्थान-स्थान पर कूड़े रखने के लिए मिट्टी के घड़े या पीपे रखना, नालियों का नियमित रूप से साफ़ किया जाना, मकानों का ठीक-ठीक स्थलों पर स्थापित होना, जल, अन्न-वितरण तथा स्वास्थ्य संबंधी उचित निरीक्षण की व्यवस्था आदि आदि बातों से ज्ञात होता है कि मोहें-जो-दड़ो में अवश्य कोई जनपद या नगरपालिका थी, जिसके द्वारा नगर की विभिन्न सुभीताओं का प्रबंध तथा निरीक्षण होता था। यह बतलाना कठिन है कि इस व्यवस्था में किस-किस पद के अधिकारी थे। इतना तो कहा ही जा सकता है कि स्वास्थ्य-विभाग तथा सार्वजनिक निर्माण विभाग के अधिकारी आजकल ही जैसे विशेषज्ञ रहे होंगे।

हंटर ने मोहें-जो-दड़ो की चित्रलिपि पर एक निबंध लिखते हुए कहा है कि संभवतः मोहें-जो-दड़ो में कोई राजा नहीं था। यहाँ प्रजातंत्र सरकार थी। प्रजातंत्र के सदस्यों या संसदों के ही द्वारा संभव है उस काल में नगर का संचालन होता रहा हो।[3] किंतु मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में दो क़िलों के अवशेषों तथा अन्य प्राप्त सामग्री से अब प्रमाणित हो गया है कि इन नगरों के शासक प्रधान तथा पुरोहित-राजा थे।

मकानों के अंदर बने पृथक्-पृथक् भाग भी व्यापारिक सभ्यता का आभास देते हैं। मोहें-जो-दड़ो के एक भवन की रूप-रेखा से ज्ञात होता है कि यह कोई बहुत बड़ी दूकान थी। इस भवन को कई भागों में बाँटा गया था। बाहर से आई नाना भाँति की वस्तुओं की प्राप्ति से ज्ञात होता है कि सिंधु नदी के तट तथा पंजाब क्षेत्र में स्थित नगरों में एक दृढ़ व्यापारी वर्ग उठ खड़ा हुआ था। बलूचिस्तान और सिंधु प्रदेश के बीच कई स्थानों पर प्रागैतिहासिक युग के अवशेषों की शृंखला मिली है। अनुमान है कि व्यापार के प्रमुख मार्गों पर स्थित होने के कारण यहाँ पर प्रायः क़ाफ़िले आदि

---

[1] विल्ट प्री० इं०, पृ० १२१-८ [2] ऐं० इं०, जि० १, पृ० १६ [3] हंटर, स्क्रि० मो० इ० पृ० १३-४

टिका करते होंगे। आगे चलकर हम देखेंगे कि उस काल में सिंधु-सभ्यता के लोगों का विदेशों से कितना व्यापक संबंध था।

व्यापार की दशा सूचित करनेवाली दूसरी वस्तु पत्थर के बटखरे हैं। मोहें-जो-दड़ो में अब तक लगभग चार सौ बटखरे प्राप्त हुए हैं। इन बटखरों का एक नियत तोल था और संभव है कि इन पर नियंत्रण रखने के लिए कोई निरीक्षक भी नियुक्त रहा हो।[1] सभी बटखरे कड़े पत्थर से काटकर बनाये गये हैं। कुछ सादे, बिना कटे पत्थरों को भी बटखरे माना जा सकता है। बटखरे पाँच विभिन्न आकारों के हैं, किंतु इनमें घन शैली के सबसे अधिक प्रचलित जान पड़ते हैं। इन बटखरों को १, २, ८/३, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३२० तथा ६४० के अनुपात में पाया गया है। इनमें इकाई का अनुपात १६ याने १३.६४ ग्राम था। एक दूसरे बटखरे के तौल में तनिक भी अंतर नहीं दीख पड़ता है और मार्शल की धारणा है कि सूसा तथा इराक से प्राप्त बटखरों में भी इतनी नियंत्रित तोल देखने में नहीं आई है।[2] इनके ऊपर कोई भी चिन्ह या लिखावट अंकित नहीं है किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वे लोग लिखने या पढ़ने से अनभिज्ञ थे। चकमक पत्थर के बने बटखरे तो राज्य की ही ओर से संभवतः चलाये गये थे। परीक्षा करने से यह भी ज्ञात हुआ है कि विभिन्न युगों में बटखरों के तोल में कोई अंतर नहीं आया। नगर की समृद्धि से अवनति काल तक एक समान तोल के बटखरे चलते रहे। छोटे बटखरे जोड़ के (बाइनेरी) और बड़े बटखरे दशमलव के आधार पर बनाये गये थे। भारी वस्तुओं को तोलने के भी बटखरे थे। इनमें एक तिकोना बटखरा तोल में २५ पौंड का है। इसके सिरे पर दो छिद्र हैं जिन पर कि तार या रस्सी डालकर उसे फिर ऊपर उठाया जाता होगा।[3] छोटी तोल के बटखरों से सोना, चाँदी या मनके तोले जाते होंगे। चन्हूदड़ो में तो मनकों की एक फैक्टरी में ऐसे कई बटखरे रक्खे पाये गये हैं। इन बटखरों पर कोई तोल का चिह्न अंकित नहीं है। यह आश्चर्य है कि किस ढङ्ग से लोग बटखरों की तोल का अंदाज करते रहे होंगे।

नापने के लिए शायद फीते या पटरियाँ रही होंगी। मैके को मोहें-जो-दड़ो में एक सीपी की टूटी पटरी मिली थी। पटरी का बचा भाग नौ बराबर भागों में बाँटा गया है। प्रत्येक हिस्से का नाप ०·२६४″ है। शायद उस समय का मापदंड १३·२″ का होता था।[4] इस नाप के मापदंड लघुएशिया, मिश्र, सीरिया, यूनान आदि देशों में भी प्रचलित थे। हड़प्पा से भी पीतल का एक छड़ मिला है। इसके दोनों कोने टूट गये हैं। केवल बीच का १·५″ भाग रह गया है। यह भी संभवतः नापने का गज़ था। इस नाप की पटरियाँ संसार के कई अन्य प्राचीन देशों में भी प्रचलित थीं। विभिन्न भवनों की नाप लेने से ज्ञात हुआ है कि सिंधु सभ्यता में फुट तथा क्यूबिट शैली के नाप साथ-साथ चलते थे[5]।

ऐसा जान पड़ता है कि मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा की स्त्रियाँ चूहों के आतंक से दुखी थीं। इनको पकड़ने के लिए चूहेदानियाँ बनी थीं। मोहें-जो-दड़ो में कुछ ऐसी वस्तुएँ मिली हैं जिन्हें कि चूहेदानियों का नमूना कहा जा सकता है। एक नमूना चूने, मिट्टी तथा अभ्रक के मिश्रित पदार्थ से बना है। इसका पेंदा समतल है। सिरे पर तीन छिद्र हैं। दूसरे नमूने में चूहेदानी के मुँह के ऊपर चार छिद्र हैं। इन पर लकड़ी डालकर सींकचे डाले जाते रहे होंगे। कुछ घड़ों

[1] ह्वीलर, फा० था० इ० पा०, पृ० २८ [2] मार्शल, मो० द० इं० सि०, जि० २, पृ० ५९६ [3] मैके, अ० इं० सि०, पृ० १०२ [4] मैके, फ० ए० मो०, जि० १, पृ० ४०४ [5] वत्स, ए० ह०, पृ० जि० १, ३६६

पर चमकदार पालिश है। संभव है यह पालिश इसीलिए की गई हो कि उन पर चूहे सरलता के साथ न चढ़ सकें। एक समृद्धिशाली तथा व्यापारिक नगर में, जहाँ सैकड़ों मन अनाज तथा रसद प्रति दिवस प्रयोग में आती रही हो, चूहों का बहुतायत में उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

हाथी दाँत में कटी मछलियों की आकृतियाँ भी खुदाई में निकली हैं। इन पर कोई छिद्र नहीं है इसलिए इन्हें ताबीज़ मानने में शंका होती है। अनेक घोंघे की कटी विचित्र वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। इनका क्या प्रयोग था, यह बतलाना कठिन है। संभव है इनमें बहुत कुछ मीनाकारी के काम में आती रही हों।

मुद्राओं पर हाथी का प्रायः चित्रण दीख पड़ता है। इस विशद चित्रण को ध्यान में रखते हुए हमें आश्चर्य होता है कि हाथीदाँत या हड्डियों के उदाहरण क्यों खुदाइयों में नहीं निकले। मार्शल का अनुमान उचित जान पड़ता है कि हाथी सिंधु प्रदेश में पवित्र माना जाता था और उसे मारने का निषेध था। जो कुछ हड्डियाँ प्राप्त भी हुई हैं वे स्वाभाविक मृत्यु से हत पशुओं की रही होंगी। भारत में हाथीदाँत के प्रयोग की अति प्राचीनता है। बौद्धकाल में हाथीदाँत की वस्तुओं का एक सुंदर बाज़ार काशी में भी था।[1] सांची स्तूप के एक विशाल एवं दर्शनीय द्वार की रूप-रेखा भी विदिशा नगरी के दंतकारों ने अंकित की थी।[2]

जहाँ तक हमारा अनुमान है प्राचीन काल में सिंधु प्रदेश तथा पंजाब निवासियों का जीवन शांतिमय था। खुदाइयों में आत्मरक्षा के बहुत कम हथियार प्राप्त हुए हैं। जो तलवारें भी मिली हैं उनकी नोक पैनी नहीं हैं। बाणों के सिर अवश्य मिले हैं। यदि आत्म-रक्षा के लिए किन्हीं शस्त्रों का प्रयोग होता था तो वे संभवतः धनुषबाण ही थे। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में क़िलेबंदी एक सीमित स्थान पर ही हुई है। इस स्थान पर उच्च शासक तथा उसका कार्यालय रहा होगा। दोनों स्थानों में ये क़िले नगर से थोड़ा हटकर एक ऊँचे स्थान पर स्थित थे। मोहें-जो-दड़ो में क़िले के ऊपर अब एक बौद्ध स्तूप के खँडहर स्थित हैं। इसके निकट कई और महत्त्वपूर्ण एवं विशाल भवनों के अवशेष मिले हैं। हड़प्पा में दुर्भाग्यवश ऐसे कोई भवन नहीं मिले। इसका कारण यह है कि वहाँ के टीलों से लोग निरंतर ईंटें निकालते रहे, इस कारण कई भवनों की रूप-रेखा नष्ट हो गई है। मोहें-जो-दड़ो में स्तूप के चारों ओर छोटे-छोटे कटानों के द्वारा पता लगा है कि वहाँ पर क़िले की रक्षा के लिए कच्ची ईंटों की दीवार बनी थी। हड़प्पा की तरह मोहें-जो-दड़ो में स्तूप-टीले के उत्तरी भाग में कच्ची ईंटों का एक चबूतरा भी मिला है। खुदाइयों से पता चला है कि हड़प्पा में क़िले की बाहरी दीवार तीन विभिन्न युगों में बनी थी। यह दीवार १०×२०′ ऊँचे बन्द के ऊपर खड़ी की गई थी। बन्द की ऊपरी दीवार का आकार ३५×४०′ है।[3] यह भी संभव है कि क़िले के बाहर स्थित नगरों की रक्षा के लिए कुछ दीवारें बनी रही हों, किंतु अभी तक इसके कोई प्रमाण नहीं मिले। नगर की भीतरी रक्षा का तो अवश्य ही कुछ-न-कुछ प्रबंध रहा होगा। इसके अतिरिक्त हमारा अनुमान है कि उस सभ्यता के लोगों में पर्याप्त सहिष्णुता थी जिसके कारण वे एक दूसरे के स्वत्वों का आदर करते थे। इस उदारता का प्रमाण हमें इस बात से भी मिलता है कि कई मकानों में निजी कुएँ जन-साधारण के लिए खुले हुए थे। पर्दा करने के लिए घर की ओर ही केवल एक पतली दीवार कुओं के निकट बना दी जाती थी।

---

[1] जातक १,३२० [2] ए० इं०, जि० २, पृ० ९२ [3] ए० इं०, नं० ३, पृ० ६९

खुदाई में कहीं भी ढाल, कवच एवं शिरस्त्राण नहीं निकले हैं। यह हो सकता है कि उस काल में ढाल आजकल की तरह चमड़े की बनती थीं और अब नष्ट हो गई हैं।

सिंधु-सभ्यता के प्रमुख नगरों, मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो में स्वच्छता का विशेष प्रबंध रहता था, किंतु प्रकृति के सनातन नियम के अनुसार वहाँ के लोग भी विभिन्न व्याधियों से मुक्ति नहीं पा सके थे। निस्संदेह उस काल के समाज में भी वैद्य तथा शल्य शास्त्र विज्ञाता रहे होंगे। इसके अतिरिक्त घरेलू दवाइयों, जादू-टोनों या ताबीज़ों के पहनने से भी रोगों के उपचार किये जाने के विश्वास रहे होंगे। वैदिक युग के लोगों तक को विश्वास था कि ताबीज़ों के द्वारा रोगों का उपचार किया जा सकता है।[१] मानव धर्म शास्त्र, अर्थशास्त्र तथा बौद्ध जातकों में प्रायः चिकित्सालयों का उल्लेख आया है।

मोहें-जो-दड़ो में कुछ औषधियाँ हड्डियों के चूर्ण से भी बनाई जाती थीं। यहाँ चार प्रकार के हिरनों—काश्मीरी बारहसिंगा, चीतल, साँभर तथा पारा के सींग प्राप्त हुए हैं। कर्नल सिवेल की धारणा है कि ये सींग, औषधि बनाने के लिए बाहर से मँगाए जाते थे। इन हिरनों में केवल पारा जाति का पशु ही सिंधु प्रदेश में पाया जाता था। अन्य तीन जातियों के पशु सिंधु प्रदेश से दूर देशों में पाये जाते हैं।[२] सिंधु प्रदेश में स्थित ओथ भांजो बूथी नामक स्थान में प्राप्त कुछ बर्तनों पर कटल नामक मछली की हड्डियाँ मिली हैं। यह पदार्थ जिसे 'समुद्रफेन' कहा जाता है आयुर्वेद में बड़ी गुणदायक औषधि मानी गई है। विशेषज्ञों के अनुसार यह औषधि कोष्ठबद्धता, आँख, कान, गले तथा चर्म-संबंधी रोगों के उपचार के लिए रामबाण है। चट्टानों से काले रस के रूप में निकला पदार्थ 'शिलाजीत' भी मोहें-जो-दड़ो में मिला है। आज दिन भी पंजाब, काश्मीर तथा गढ़वाल की ऊँची पर्वत-शिलाओं में से यह पदार्थ बराबर निकाला जाता है। इनके अतिरिक्त 'हरिताल' का एक टुकड़ा भी हड़प्पा में मिला है। यह पदार्थ अति विषैला है किंतु कुछ रोगों के उपचार में अल्प मात्रा में यह औषधि के रूप में भी प्रयोग होता है। यह पदार्थ कभी-कभी बर्तनों तथा हथियारों को स्वच्छ करने के काम भी आता था।[३] महकवि कालिदास के कुछ नाटकों में भी 'हरिताल' का उल्लेख आया है। इसके अतिरिक्त माथे पर तिलक या बिंदी लगाने के कुछ पदार्थों में भी संभवतः हरिताल मिलाया जाता था।[४]

यह संभव है कि शारीरिक स्फूर्ति के लिए लोग व्यायाम करते रहे हों। हड़प्पा से प्राप्त एक विचित्र आकृति की मुद्रा से ज्ञात होता है कि वह व्यायाम कर रही है। इसमें एक नग्न पुरुष पैर ऊपर की ओर समेटकर फिर दोनों हाथों को पीछे फेंके दिखलाया गया है।[५]

यह बतलाना कठिन है कि सिंधु-सभ्यता के लोगों को कहाँ तक गणित, ज्योतिष तथा नक्षत्र-शास्त्र का ज्ञान था। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे लोग दिशाओं के महत्त्व से भली-भाँति विज्ञ थे। मकानों को बनाते समय सूर्योदय की दिशाओं का अवश्य ध्यान रक्खा जाता था। वे तारों की गति से भी दिशाओं को निर्धारित करते रहे होंगे। संभवतः उनके वर्ष काल का निर्णय सूर्य की गति से ही होता था। इसी निर्णय के अनुसार संभव है सिंधु प्रदेश-निवासी बाढ़ आने के समय का अनुमान पहले कर लेते थे।[६]

वैदिक युग में लोगों को ज्योतिष तथा नक्षत्र-शास्त्र का अच्छा ज्ञान था। उस काल में

[१] अथर्ववेद १, १७; ७, २२; २३, २४. [२] मार्शल, मो० इं० सि०, जि० १, पृ० २६
[३] वत्स, ए० ह०, जि० १, पृ० ८० [४] कुमारसम्भव, ६, २३ [५] वत्स, ए० ह०, जि० १, पृ० २६९
[६] दीक्षित, प्री० सि० इं० वे०, पृ० ३०

भी लोग तारों की गति से वर्ष के काल-विभाजन का निश्चय करते तथा विभिन्न उत्सवों और त्यो-हारों के शुभ दिनों को नियत करते थे। दक्षिणायन तथा उत्तरायण का उल्लेख भी वेद के मंत्रों में मिलता है।[1]

मोहें-जो-दड़ो की खुदाइयों में मैके को फर्शों के नीचे धातु की बहुत-सी वस्तुएँ प्राप्त हुई थीं। इनमें कुछ तो प्रतिदिन प्रयोग में लाये जानेवाले बर्तन तथा हथियार हैं। जान पड़ता है किसी भावी धावे की आशंका से लोगों ने ये बर्तन भूमि के नीचे दबा दिये और अस्थायी रूप से स्वयं किसी सुरक्षित स्थान को चले गये। किन्हीं कारणों से वे फिर वापिस नहीं लौट पाये। धावे का आतंक काफ़ी दिनों तक रहा जान पड़ता है, इसी कारण वर्तनों के ऊपर जमे फर्श को अन्य व्यक्ति खोद नहीं सके। आगे चलकर हम देखेंगे कि खिरथर पहाड़ी की ओर से ही मोहें-जो-दड़ो पर किसी युग में धावा किया गया होगा। इधर-उधर पड़े हुए अस्थिपंजरों से भी धावे का आभास होता है। जिन मकानों में ये धातु की वस्तुएँ गड़ी थीं, उनके निकट ही एक गड्ढे में हारग्रीव्ज़ को चौदह अस्थि पंजर मिले। निकट ही एक सीढ़ी पर धावे से मारे गये कुछ व्यक्तियों के धड़ गिरे पड़े थे। गुह के मतानुसार कुछ कपार जले से मालूम देते हैं। संभव है किसी भगदड़ के कारण अस्थि-पंजरों को भली-भाँति नहीं जलाया जा सका था। उस समय पर्याप्त लकड़ी का भी प्रबंध नहीं हो सका होगा। केवल मृतक संस्कार की सूक्ष्म विधि को संपन्न करने के लिए शरीर को अग्नि में थोड़ी देर के लिए रखना आवश्यक था। यह प्रथा आज दिन भी इस देश में चली आ रही है।

धावा भी उसी समय हुआ होगा जब मोहें-जो-दड़ो की सभ्यता ढल चुकी थी। यह सभ्यता के अंतिम चरण में संभव था जब रक्षा के साधन शिथिल पड़ चुके थे।

हम लिख चुके हैं कि स्वरक्षा के कोई हथियार मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में नहीं मिले हैं। अंतिम चरण में नगर की न तो उचित क़िलेबंदी थी और न रक्षा के साधन और दीक्षित का अनुमान है कि सिंधु-सभ्यता के लोप होने का कारण एक यही दुर्बलता थी। वैसे तो किसी भी सभ्य समाज का क्रूर तथा बर्बर जातियों के सम्मुख टिकना असंभव है। किंतु, जब स्वयं स्वरक्षा की ओर से किसी समाज का ध्यान हट गया हो तो उसके बचने की क्या आशा की जा सकती है। सिंधु प्रदेश-निवासी बर्बर जातियों से मोर्चा लेने के लिए अनुपयुक्त थे। वे चितारहित तथा आराम का जीवन व्यतीत करते थे। भोजन की उन्हें कमी न थी। शांति के वातावरण में उनका ध्यान कला-कौशल तथा व्यापार की ओर अधिक खिंचा। शास्त्रों ने ठीक ही कहा है कि जो समाज अपनी रक्षा नहीं कर सकता है वह भला संस्कृति की क्या रक्षा कर सकेगा।

यह जानना आवश्यक है कि मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा सदृश्य परिपूर्ण जनसमुदाय में किस आजीविका और धर्म के लोग रहते थे। अब तक प्राप्त वस्तुओं से तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये दोनों नगर राजधानियाँ थीं। मोहें-जो-दड़ो तो निस्संदेह एक प्रसिद्ध औद्योगिक केंद्र रहा होगा और यहाँ भिन्न-भिन्न वर्गों तथा आजीविकाओं के लोग रहा करते होंगे। यह माना जा सकता है कि उच्च वर्ग के समाज में पुरोहित, वैद्य, ज्योतिषी और जादूगर और निम्न वर्ग में मछुवे, मल्लाह, कृषक, वणिक, भिश्ती, गाड़ीवान, चरवाहे तथा कुम्हार थे।[3]

संभव है उस युग में भी व्यापारी लोग 'गणों' या 'श्रेणियों' में संगठित थे। इन गणों के अधीन योजनाओं में निर्धन से निर्धन श्रमिक को भी कार्य मिलने की व्यवस्था रही होगी। किंतु

---

[1] ऋग्वेद १, १६४, १२; १, २१, २१ [2] दीक्षित, प्री० हि० इं० वे०, पृ० ४७-४८

हम यह भी सोच सकते हैं कि सिंधु-सभ्यता के वैभवशाली नगरों में आर्थिक असमानता और विषमता थी। समाज का एक शोषित अंग भी रहा होगा जिसकी भित्ति पर उच्च वर्ग स्थित था। यश के दिनों में सिंधु-सभ्यता के नगरों में बड़ी चहल-पहल रहा करती होगी। चित्र विचित्र वेषभूषा से सुसज्जित नागरिक तथा भ्रमणकारों के स्वच्छंदतापूर्वक विचरण करने का दृश्य अति मनोरंजक होता रहा होगा।

खेद है कि मिश्र तथा सुमेर निवासियों की तरह सिंधु प्रदेश के निवासियों ने अपने मृतक व्यक्तियों के शरीरों तथा दैनिक जीवन में प्रयोग में आनेवाली वस्तुओं को सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं किया। मिश्री लोगों का विश्वास था कि मृत्यु के बाद भी मनुष्य या उसका एक भाग जिसको वे लोग 'का' कहते थे, दूसरे संसार में जीवित रहता है। आज बड़े कौतूहल के साथ संसार मिश्र देश के उन पिरामिडों को देख रहा है, जिनके गर्भ में संकलित सामग्री द्वारा हमें मिश्री जीवन की अनुपम झाँकी मिलती है। संभवतः मोहें-जो-दड़ो निवासी पुनर्जन्म के सिद्धांतों को नहीं मानते थे। जीवन तथा मृत्यु के बीच के काल को ही वे मानव की क्रीड़ास्थली मानते थे।

अभी तक मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में कोई वास्तविक शव-स्थान नहीं मिला है। यह कुछ आश्चर्यजनक सा है, क्योंकि प्राच्य देशों के सभी नगरों में तत्कालीन शव-स्थान मिले हैं। मोहें-जो-दड़ो में कई स्त्री, पुरुष तथा बच्चों के अस्थि-पंजर ढेर रूप में या अकेले मिले रहते हैं। किंतु उनके रखने के ढंग से ज्ञात होता है कि उनकी सहसा मृत्यु हुई थी और किसी कारणवश उनको दफ़नाया नहीं जा सका था। मोहें-जो-दड़ो में अब तक इक्कीस अस्थि-पंजर मिले हैं। इनमें तेरह तो बड़ी आयु के स्त्री-पुरुषों के तथा एक बच्चे का पंजर था। दूसरे स्थान पर छः अस्थि पंजर प्राप्त हुए हैं। ये एक गली में पड़े थे। इनके ऊपर एक पशु का पंजर भी पड़ा था। इन अस्थि-पंजरों में सात तो आम सड़कों तथा अन्य खण्डित भवनों में पड़े मिले थे। पंजरों की परीक्षा करने पर भी ज्ञात होता है कि उनमें शरीर के संपूर्ण भाग नहीं हैं। इसके अतिरिक्त ये अस्थि-पंजर तीन विभिन्न जाति के लोगों के जान पड़ते हैं। खुदाइयों में कोई पंजर फ़र्श के नीचे गाड़ा हुआ नहीं पाया गया। मार्शल का मत है कि मोहें-जो-दड़ो में तीन प्रकार की शव संस्कार प्रणालियाँ वर्तमान थीं :—

१. पूर्ण समाधिकरण—जिसमें संपूर्ण शरीर को गाड़ा जाता था।
२. आंशिक समाधिकरण—जिसमें शरीर के चंद भागों को गाड़ा जाता था।
३. दाहकर्म—जिसमें शरीर को जलाकर भस्म को गाड़ दिया जाता था।

पहली प्रणाली के अंतर्गत मार्शल इक्कीस पंजर मानते हैं, जिनका उल्लेख अभी ऊपर हुआ है। इनके साथ कई प्रकार के आभूषण भी थे। किसी भी उदाहरण के साथ क़ब्र में रखने के बर्तन नहीं मिले हैं। ये क़ब्रें उस समय की हैं जब मोहें-जो-दड़ो नगर अवनति की ओर चल पड़ा था। दूसरी प्रणाली के अंतर्गत वे हड्डियाँ हैं जो एक मकान के आँगन में गड़ी मिली थीं। यहाँ पर एक खण्डित घड़े में एक खोपड़ी तथा भूमि पर इसके निकट थोड़ी सी हड्डियाँ तथा बर्तन आदि गड़े मिले थे। अन्य स्थलों पर कभी जली हड्डियों या कभी बिना हड्डियों के राख से भरे पात्र मिले हैं। मार्शल का अनुमान है कि उस काल में मृत्यु के बाद पंजर खुले छोड़ दिये जाते थे। जब पशु पक्षी उनसे मांस नोच लेते थे तो हड्डियाँ इकट्ठी कर गाड़ दी जाती थीं। यह प्रथा आजकल भी पारसियों के बीच प्रचलित है। हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो में चौड़े मुँह के कुछ घड़े सड़कों के नीचे गड़े हुए मिले हैं। इनके अंदर छोटे-छोटे बर्तन, पक्षी तथा मछली के खिलौने, गुरियाएँ, मृण्मूर्तियाँ आदि आदि मिले हैं। यह संभव है कि शरीर को जलाकर इन

घड़ों में अस्थि-फूल मात्र रक्खे जाते रहे हों। जैसे पंजाब में तथा अन्यत्र आज दिन भी प्रथा है कि शरीर को जलाने के चौथे दिन बाद चिता से हड्डियाँ इकट्ठी कर धोई जाती हैं। इसके बाद इनका चूर्ण बनाकर देश में व्याप्त विभिन्न नदियों में प्रवाहित कर दिया जाता है। संभव है ऐसी ही कोई प्रथा प्राचीन सिंधु प्रदेश में भी रही हो।

किंतु इन धारणाओं का खण्डन करते हुए पिगट कहते हैं कि बड़े आकार के घड़े जो सड़कों या मकानों के फर्शों के नीचे पाये गये हैं वे शायद कूड़ा रखने के घड़े थे। इनमें बर्तन, आभूषण तथा पशुओं की हड्डियाँ मात्र थीं। इनमें नालियों से पानी बहकर जाता रहा होगा।[1]

हड़प्पा में भी दो क़ब्रिस्तान मिले हैं। इन्हें १९२९–३१ के बीच खोदा गया था। 'यच' नाम के क्षेत्र में मकानों के बहुत ही कम चिन्ह दीख पड़े। यहाँ पर दो अलग स्तरों पर क़ब्रें मिलीं। ऊपर की तह में तो एक सौ बीस घड़ों पर हड्डियाँ आदि थीं। इसके नीचे शव सीधे भूमि में गाड़ दिये गये थे।[2] भूमि के शवों के साथ कहीं-कहीं बर्तन भी पड़े मिले। ऊपर की सतह के घड़ों की औसतन ऊँचाई ६¾ × २३¾" थी। कुछ घड़ों पर पालिश तथा उनके ऊपर अलंकरण भी था। इन घड़ों के अंदर तले पर थोड़ी सी हड्डियाँ रक्खी पाई गई थीं। इनके ऊपर फिर मिट्टी डाल दी गई थी। कुछ घड़ों पर तो हड्डियाँ तक नहीं हैं। तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि एक सौ चौबीस घड़ों में, पैंतीस में तो युवावस्था के लोगों, इक्कीस में बच्चों तथा ग्यारह में छोटे बच्चों की हड्डियाँ रक्खी थीं। इक्यावन घड़ों में हड्डियाँ मिट्टी के साथ सनी हुई थीं इस कारण उनसे कुछ निष्कर्ष नहीं निकल सका है। कहीं-कहीं घड़ों में विचित्र आयु के लोगों की मिश्रित हड्डियाँ ही रक्खी मिलीं। एक अलौकिक घड़े में जली राख के साथ हड्डियाँ, नुकीले पानी पीने का पात्र, तश्तरी, मिट्टी की गोली, कड़ों के टुकड़े आदि रक्खे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर को पक्षियों द्वारा नुचे जाने पर भी बची खुची हड्डियों को जलाया गया था। ग्यारह घड़ों में बच्चों की हड्डियाँ पूर्ण ही थीं और वत्स का कहना है कि बच्चों के शवों को खुले में नहीं छोड़ा जाता था।

भूमि में जो शव गाड़े गये थे उनकी कोई विशेषता नहीं है। भूमि में शरीर को सीधा लिटाया जाता था। एक गड्ढे में चार शव साथ ही रक्खे थे। कुछ पंजरों के मुँह के पास छोटे-छोटे पात्र रक्खे थे। एक उदाहरण के साथ बकरी की हड्डियाँ भी थीं। ऐसा ज्ञात होता है कि मृत्यु के समय बकरी का बध किया गया था। दोनों स्तरों के शव-स्थानों से कई मिश्रित पात्र मिले हैं और संभव है कि इन दोनों के बीच का समय कम ही रहा हो। वत्स का कहना है कि भूमि में घड़ों के अंदर रक्खे शव-विसर्जन की प्रथा के प्रवेश होने में किसी आकस्मिक सामाजिक उलट-फेर का हाथ है। कपारों के अध्ययन से भी पता चलता है कि उस समय समाज में कुछ नई जाति के लोग आ पहुँचे थे।[3]

हड़प्पा के दक्षिण पूर्वी भाग में एक स्थल पर चौबीस संपूर्ण कपार तथा शरीर के अन्य भाग मिले हैं। इनके साथ पशुओं की हड्डियाँ तथा बर्तन भी रक्खे थे। ज्ञात होता है कि ये कपार किसी शव स्थान से उठाकर यहाँ पर डाल दिये गये थे। दूसरे क़ब्रिस्तान में दो भिन्न-भिन्न सतहों में क़ब्रें थीं। इनमें सबसे नीचेवाली में संपूर्ण लंबे शरीर डाल दिये गये थे। ऊपर वाली सतह में घड़ों पर कपार आदि थे। इन घड़ों के ऊपर नाना भाँति के चित्रण भी थे। १९४६ ई० में

[1] पिगट, प्री० इ०, पृ० २०४-५ [2] वत्स, अ० इ०, जि०१, पृ० २०४ [3] वत्स, अ० इ०, जि०१, पृ० २३५

ह्वीलर की अध्यक्षता में एक और क़ब्र खोदकर निकाली गई। इस प्रकार १९३७ तथा १९४६ ई० के बीच सत्तावन क़ब्रें हड़प्पा में मिलीं। क़ब्रों में शरीरों का सिर प्रायः उत्तर की ओर होता था। इनके साथ-साथ चालीस तक मिट्टी के बर्तन पाये गये हैं।[1] कभी-कभी मृतकों के शरीरों पर गहने जैसे-के-तैसे रहने दिये जाते थे। एक पंजर के हाथ की उँगली के निकट अँगूठी तथा अन्य पंजरों के गले के निकट कंठहार आदि थे। इनके अतिरिक्त सौंदर्य-संबंधी कुछ वस्तुएँ जैसे ताँबे के शीशे, काजल लगाने की सींकें इत्यादि वस्तुएँ भी क़ब्रों में मिली हैं। एक क़ब्र जो १९४६ ई० में निकली थी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इस क़ब्र में ७′ लंबे तथा २′×२½″ चौड़े (केवल सिर की ओर) नाप के लकड़ी के बक्स में एक स्त्री का शव रक्खा गया था। शरीर को संभवतः चटाई से लपेटा गया था। शरीर पर हरे रंग की कोई औषधि भी उसे अधिक सुरक्षित रखने के लिए संभवतः लगा दी गई थी। क़ब्र में बहुत से बर्तन भी रखे गये थे। गाड़ने की ऐसी प्रणाली सिंधु प्रदेश में अनूठी है। सुमेर में यह प्रथा ई० पू० ३००० ई० में वर्तमान थी। उर तथा सूसा की कई क़ब्रों में शरीर को चटाई से लपेटा पाया गया था।

१९३७ तथा १९४६ ई० में निकली क़ब्रें सिंधु-सभ्यता के समकालीन हैं। यह निर्दिष्ट स्थल बहुत दिनों तक क़ब्रों से भरता रहा। ऐसा पता चला है कि कहीं-कहीं पर क़ब्रें पुरानी क़ब्रों के ऊपर ही बना दी गई थीं। इन सभी उदाहरणों में मृतक के साथ रक्खी जानेवाली सामग्री एक समान है।

सिंधु-सभ्यता के अंतर्गत आनेवाला एक दूसरा क़ब्रिस्तान बेहवालपुर के डेरावर नामक स्थान में भी मिला है। यहाँ क़ब्रें खोदने से ज्ञात हुआ है कि उनमें अस्थियाँ किसी अन्यत्र स्थान से लाकर रक्खी गई थीं। मक्रान में सुटकाजन डोर नामक स्थान के क़िले की एक दीवार के अंदर तीन बड़े घड़े मिले जिन पर जली हुई हड्डियाँ, बर्तन आदि वस्तुएँ रक्खी हुई थीं।

यहाँ पर उन क़ब्रों का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जो मजूमदार को थारो की पहाड़ियों पर मिली थीं। यहाँ पर पत्थर के बने घेरों के अंदर शायद अस्थि-फूल रक्खे गये थे। इस समय इनके अंदर कोई हड्डी नहीं है। राख भी समय की प्रगति के साथ नष्ट हो गई है। इनके अंदर कुछ आहुति-आधार भी थे, जिनका संभवतः सिंधु-सभ्यता से कोई संबंध नहीं था।

बलूचिस्तान में नाल तथा शाहीटंप नामक स्थानों में भी कुछ शव भूमि में गाड़े गये थे। इन दोनों स्थानों में जले या पूर्ण शरीरों की क़ब्रें थीं। इनके रखने का ढँग हड़प्पा जैसा था, किंतु इनमें जो बर्तन रक्खे पाये गये उनका अलंकरण हड़प्पा के बर्तनों से सर्वथा भिन्न है।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा के निवासियों के बीच कौन-सी लिपि और भाषा प्रचलित थी, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। अनेक भारतीय एवं विदेशी भाषाविदों ने इस संबंध में अपनी धारणाएँ प्रस्तुत की हैं, परंतु उनसे कुछ विशेष तथ्य नहीं निकल पाया है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, उस काल में लिखने के लिए चमड़ा, वृक्ष की छाल, मिट्टी तथा लकड़ी की तख़्तियों का प्रयोग होता था। मुद्राओं पर अंकित लिपि अद्वितीय है। मध्य-पश्चिमी देशों की किसी लिपि से इस का संबंध नहीं है।

संसार के अन्य देशों की तरह इसे भी चित्रलिपि के अंतर्गत माना गया है। हंटर ने ठीक ही कहा है कि संसार के इतिहास के किसी प्रारंभिक युग में चित्रलिपि की उत्पत्ति एक ही स्रोत से हुई।[2] आरंभ में इस लिपि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दीख पाता। किंतु

---

[1] पूर्व ई, पृ० ८९ [2] हंटर, स्क्रि० आ० मों० ह०, पृ० ४९

समय प्रगति के अनुसार तथा स्थानीय संस्कृतियों के उलट-फेर से, इसमें परिवर्तन होता गया। दीक्षित के विचार से सिंधु-लिपि पंजाब तथा सिंधु प्रदेश में स्वतंत्र रूप से फली-फूली थी।

हंटर के अनुसार सिंधु-लिपि संकेतात्मक है और इसकी उत्पत्ति पदार्थ-चित्रों तथा साधारण चित्रलिपि से हुई है। इस लिपि में चार सौ के लगभग वर्ण हैं। इससे ज्ञात होता है कि सिंधुलिपि उन्नत अवस्था में पहुँच चुकी थी। चित्रलिपि में भी अनेक ऐसे चिह्न हैं, जिनके ठीक रूप का पता नहीं चलता। अधिक से अधिक बीस चिन्हों के लेख ही अभी तक मुद्राओं पर दीख पड़े हैं। यह लिपि दाएँ से बाएँ को पढ़ी जाती थी, किंतु जहाँ पर दो या अधिक पंक्तियाँ हैं वहाँ लिखावट की दिशा में भी हेर-फेर हो गया है। यह लिपि तीन वर्गों में (१) साधारण अक्षरों (सिलेबल्स) (२) पदार्थ-चित्रों (आइडियोग्राम) और (३) निर्धारकों (डिटरमिनेशन्स) में विभाजित रही होगी। किसी मुद्रा में एक या दो तक ऐसे तत्त्व दीख पड़ते हैं। चिन्हों द्वारा अर्थ को पूरा करने के लिए पदार्थ-चित्रों तथा निर्धारकों से भी आवश्यकतानुसार सहायता ली जाती थी। कुछ अंशों में चिन्ह स्वयंबोधक तथा कुछ में पदार्थों के अर्थबोधक रूप में हैं। मुद्राओं में अधिकतर व्यक्तिगत नाम या उनके पद ही अंकित रहे होंगे। ताँबे की पट्टियों के अतिरिक्त अन्य और किसी मुद्रा पर अंकित पशुओं तथा चित्रलिपि में संबंध नहीं दीख पड़ता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सिंधु लिपि का संबंध द्राविड़ भाषा से है। बलूचिस्तान में 'ब्राहुई'-जाति के चिन्हों से इनका अनुमान है कि द्राविड़ लोग पश्चिमी एशिया से यहाँ आकर बसे थे। दूसरे वर्ग के भाषाविद् कहते हैं कि द्राविड़ भाषा का मूल दक्षिण भारत में है। 'ब्राहुई' लोगों के विषय में कहा जा सकता है कि वे लोग दक्षिण भारत के सिलसिले में उत्तर-पश्चिम को गये जहाँ इन्होंने सुविधाएँ देखकर फिर अपने स्वतंत्र उपनिवेश स्थापित किये।[1]

भारत के प्राचीनतम कार्षापण सिक्कों पर भी कुछ ऐसे चिन्ह या चित्र हैं जिनका अंकन सिंधु-सभ्यता की मुद्राओं पर मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि भारत में ऐसे चित्रण की एक विशिष्ट परम्परा थी।[2]

सिंधु-सभ्यता की चित्रलिपि के ठीक पढ़े जाने पर एक बड़े रहस्य का पता लग सकेगा, किंतु, इस सफलता की आशा कब तक की जाय यह बतलाना कठिन है।

---

[1] जयचंद्र विद्यालंकार, भारत भूमि और उसके निवासी, पृ० २५० [2] ज० ए० सो० बं०, न्यूमिसमैटिक सप्लीमेंट फ़ार १९३४, पृ० १६-७

छठा अध्याय

धर्म

चिरकाल से भारत एक अति धर्मप्रिय देश रहा है। यहाँ के आचार-विचार, दर्शन तथा कला की भित्ति बिल्कुल धर्म पर खड़ी है। भारत में धर्म ही जीवन है। सिलवाँ लेवी ने ठीक ही लिखा है—"यहाँ मानव परमात्मा में लिप्त है। वह चाहे किसी रूप में परमेश्वर को पूजे, अपने जीवन के प्रतिक्षण में उसे वह देखता तथा सुनता है। वह स्वयं ईश्वर का एक अंश है और उसी में तल्लीन रहता है।" यदि मोहें-जो-दड़ो तथा सिंधु-सभ्यता में हम हिंदू-तत्व देखते हैं तो यहाँ धर्म का दृढ़ प्रभाव होना चाहिए।

किंतु सिंधु-सभ्यता के भग्नावशेषों में अभी कोई भी ऐसी विशिष्ट वस्तु नहीं मिली जिसे हम धार्मिक महत्त्व दे सकें। आज तक जिन वस्तुओं को धार्मिक महत्त्व प्राप्त हुआ भी है वे अनुमान तथा कल्पना पर ही आधारित हैं। इन ५००० वर्षों में तो सभ्यता या संस्कृति में न जाने कितने उलट-फेर हुए। इसलिए मूक वस्तुओं के अध्ययन से ही कोई निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत नहीं लगता। फिर भी प्रस्तुत सामग्री से जो धारणाएँ पुरातत्त्व-पंडितों ने स्थिर की हैं उनका उल्लेख करना उचित होगा।

मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो में कोई ऐसा भवन नहीं मिला है जिसे कि निश्चय-पूर्वक धार्मिक महत्व दिया जा सके। यह संभव है कि इन भग्नावशेषों के बीच या कोनों पर कहीं मंदिर या धर्म संबंधी भवन दबे पड़े हों। मोहें-जो-दड़ो में जहाँ पर वर्त्तमान समय में बौद्ध स्तूप स्थित है वहाँ नीचे तो निश्चय ही कोई मंदिर दबा पड़ा जान पड़ता है। यह स्थान खँडहरों में सबसे अधिक ऊँचा है और इसके सन्निकट स्थित टीलों के अंदर जो भवन निकले हैं उनकी रूप-रेखा अलौकिक है। स्तूप के नीचे तो एक विशाल भवन २०' ऊँची कच्ची ईंटों के चबूतरे पर स्थित था। इससे कुछ दूर हटकर पश्चिम दिशा की ओर २३०'×७८' भवन, स्नानागार, छोटे-छोटे स्नानगृह आदि थे। इनमें से एक भवन में नगर के धर्म-अधिपति रहा करते होंगे। एक अन्य भवन के सामने ६०'-६" लंबा और ४७'-४" चौड़ा आँगन है। इसमें तीन कुएँ बने हैं। दीक्षित के मतानुसार लोग इन कुओं से जल लेकर शुद्धि करते रहे होंगे। मार्शल की यह भी धारणा थी कि मोहें-जो-दड़ो में मंदिर लकड़ी के बनते थे।[1] किंतु यह धारणा एका-एक मान्य नहीं हो सकती। जब मोहें-जो-दड़ो में विशाल से विशाल भवनों के निर्माण में पकाई ईंटें प्रयुक्त हो सकती थीं तो यह कोई कारण नहीं कि मंदिरों को लकड़ी जैसे नश्वर पदार्थ से बनाया जाता। हमारा अनुमान है कि उस युग में सामूहिक पूजा तथा प्रार्थना के लिए बड़े-बड़े प्रकोष्ठों तथा कमरों के भवन बनते रहे होंगे। इसके अतिरिक्त साधारण घरों में आलों या अन्य स्थानों में भी मूर्त्तियों को स्थापन करने की प्रथा रही होगी। हमारा विश्वास है कि विशद खुदाई होने पर इन धारणाओं की बहुत कुछ पुष्टि हो जायगी। अब हम पूजा-संबंधी कुछ वस्तुओं का विवेचन करेंगे।

---

[1] मार्शल, मो० इं० सि०, जि० १, पृ० २५२

मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा, चन्हूदड़ो तथा अन्य स्थानों से मिट्टी से बनी कुछ स्त्रियों की मूर्त्तियाँ मिली हैं। पुरातत्व शास्त्री इनको मातृदेवी की मूर्त्तियाँ मानते हैं। ये मूर्त्तियाँ प्रायः नग्न बनाई गई हैं। वे कमर से नीचे एक पटका जो कि मेखला से बँधा रहता है, को धारण किये हैं। पैर तने के समान हैं। पैरों में उँगलियों के दिखलाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। गले में कई लड़ियों के हार तथा कंठहार हैं। आँखें मिट्टी की गोल बत्तियों से प्रदर्शित की गई हैं। सिर पर एक ऊँची कुल्हाड़ी की शकल की शिरोभूषा है। यह किसी नारे से थमी दीख पड़ती है। कुछ उदाहरणों में स्त्रियों के सिर के दोनों ओर (कानों के स्थान पर) प्याले जैसी वस्तुएँ हैं। ऐसी मूर्त्तियों के गले पर गुलूबंद जैसा आभूषण भी पड़ा रहता है। इनमें कोई विशेष सौष्ठव नहीं है।

विद्वानों का मत है कि ये मूर्त्तियाँ मातृदेवी की हैं। मातृदेवी की पूजा का प्रचलन प्राचीन काल में मेडीटेरेनियन तट से भारत तक फैला था। भारत में यही देवी पद्माश्री, अदिति, अनिति आदि नाम से प्रख्यात हुई है। इन मूर्त्तियों में स्त्री के कुछ विशिष्ट अंग-प्रत्यंगों जैसे चौड़े नितम्ब, ऊँचे वक्ष आदि को दिखलाने का विशेष प्रयत्न किया गया है। निस्संदेह ये मातृ-देवी की मूर्त्तियाँ हैं और इनको प्राचीन काल में प्रत्येक घर में विभिन्न रूपों तथा नामों से पूजा जाता रहा होगा। जिन मूर्त्तियों के सिरों के इधर-उधर दीपक बने हैं उनमें धुएँ तथा काले रंग के चिन्ह अभी तक वर्त्तमान हैं।

मातृदेवी की पूजा की प्रथा युग-युगों तक चलते रहने का एक कारण यह भी है कि यह एक ऐसी देवी थी, जिसकी ओर सरल से सरल व्यक्ति का ध्यान आकर्षित हो जाता था। केवल 'माँ' या 'माता' शब्द से ही किसी सृजनात्मक शक्ति का बोध हो जाता है। इस बात का पता नहीं है कि स्त्री और पुरुष दोनों की एक साथ पूजा होती थी या नहीं।

बलूचिस्तान में भी मातृदेवी की कई मूर्त्तियाँ मिली हैं। यहाँ से प्राप्त मूर्त्तियों में केवल सिर तथा धड़ ही बनाया जाता था। इनमें पैरों को अलग कर कमर के नीचे एकदम चिपटा कर दिया गया है।

मातृदेवी की पूजा का प्रारंभ धरती माता की पूजा से ही संभवतः हुआ होगा। मेसोपोटे-मिया के साहित्य में तो प्रकृति को 'पृथ्वी की रानी' कहा गया है। बेबीलोन की कुछ मुद्राओं पर मातृदेवियाँ अनाज की बाल के डंठल के साथ दिखलाई गई हैं। मेसोपोटेमिया में मातृदेवी मनुष्य की अनेक व्याधियों से रक्षा भी करतीं थी।[1] ऐसे ही किसी दृष्टिकोण से सिंधु प्रदेश में मातृदेवी की पूजा होती रही होगी। यह तो निर्विवाद है कि फ़रात, दजला, नील तथा सिंधु नदी के तट पर रहनेवाले लोगों की आजीविका बहुत कुछ खेती पर ही निर्भर थी और यह स्वाभाविक ही है कि वे पोषण करनेवाली खेती या धरती माता की प्रधानतया पूजा करते रहे हों।

मातृदेवी की पूजा के अनेक उदाहरण मौर्यकाल तथा उसके बाद के युगों की कला में मिलते हैं। तक्षशिला, बसाढ़ तथा कौशाम्बी से मुलायम पत्थर के कुछ ऐसे छल्ले मिले हैं, जिनके भीतरी भाग में मातृदेवी की आकृतियाँ अंकित हैं। ये आकृतियाँ लताओं के बीच नग्न रूप में खड़ी हैं और अनुमान है, कि इनका संबंध भी उपज की देवी से था। साँची स्तूप के एक परिचक्र पर भी उपज की देवी का चित्रण है। दृश्य में पुष्प चंद्राकार परिचक्र के नीचे स्त्री खड़ी है। इसके नीचे एक दूसरा परिचक्र भी है। इस फुल्ले के भीतर दोनों शाखाओं सहित अर्द्ध नग्न स्त्री की आकृति है। मार्शल के मतानुसार यह लक्ष्मी या उपज की देवी का चित्रण है।[2] शुंग

[1] कलकत्ता रिव्यू, जि० ३४, १९३१, पृ०२३०-१ [2] मार्शल, ए० गा० साँ० पृ० १४०

काल में ठप्पों से निकाली मिट्टी में कई ऐसी आकृतियाँ हैं जिन्हें कि उपज की देवी माना जा सकता है।[1]

प्राचीन काल की सबसे अधिक प्रचलित देवी का नाम 'वासिनी' था। इसका उल्लेख गृह्य-सूत्रों में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण-काल में श्री देवी प्रमुख हो गई थी। पौराणिक हिंदू काल में मातृदेवी अन्य देवताओं की श्रेणी में स्थायी रूप से आ जाती है। ऋग्वेद में मातृदेवी को कई नामों से संबोधित किया गया है। यथा :

अदितिर्द्यौरदितिरन्त रिक्ष मदितिर्माता स पिता स पुत्रः
विश्वेदेवा अदिति, पञ्चजना अदितिर्जात मतिर्जात मदितिर्जनित्वम्। (ऋ० १, ८६, १०)

कुछ मंत्रों में वह मही, माता, सुपुत्रा आदि नामों से संबोधित की गई हैं। अदिति के रूप तथा गुण वैसे ही थे जैसे कि ब्राह्मण तथा पौराणिक साहित्य में वर्णित मातृदेवी के हैं। अदिति कभी-कभी माता पृथ्वी भी कहलाती हैं। यथा—

नमो मात्रे, पृथिव्यै, नमो मात्रे पृथिव्यै (यजु० ६, २२)
इयं पृथ्वी वै माता (तै० सं० ३, ८, ६, १)

इस प्रकार हम देखते हैं कि मातृदेवी की महत्ता भारत में युग युगों में विभिन्न प्रकार से रही। आज भी दुर्गा, भवानी, चंडी आदि नामों से अनेक देवियों का पूजन भारत के कोने-कोने में होता है। स्थान-स्थान पर इन देवियों का स्थान, या नाग कुल-देवियों ने ले लिया है। यह भी विश्वास हमारे देश के कुछ भागों में चला आ रहा है कि कई देवियों की पूजा करने से महामारी रोगों की शांति हो जाती है।

एक दूसरे वर्ग की मूर्तियों में स्त्रियों को हम भिन्न-भिन्न दृश्यों में पाते हैं। कहीं पर वे बच्चों को स्तन पान कराती दीख पड़ती हैं। इनमें बच्चे का वास्तविक रूप नहीं दीख पड़ता। वह केवल एक मिट्टी के सादे टुकड़े से दिखला दिया गया है। इस शैली की मृण्मूर्तियाँ अधिकतर प्राचीन खंडहरों के निम्न स्तरों से ही निकली हैं। माता और शिशु का चित्रण मृण्मूर्तियों में गुप्त काल तक चलता रहा। एक अन्य उदाहरण में स्त्री दोनों हाथों से नाभि के पास एक पात्र या टोकरी जिसमें कुछ पदार्थ रखे हैं थामे है। कुछ गर्भवती स्त्रियों की मूर्तियाँ भी खुदाई में निकली हैं। हड़प्पा से प्राप्त मिट्टी की एक मोटी तख्ती पर गर्भवती स्त्री लेटी दीख पड़ती है।[2] यह तख्ती लकड़ी के तख्त आदि का ही एक रूप रही होगी। दूसरे उदाहरण में एक स्त्री सिर पर किसी पात्र में रोटियाँ जैसी वस्तुएँ लिये हुए है। हड़प्पा में भी कुछ स्त्रियाँ सींगों के सदृश किसी वस्तु को सिर के ऊपर रक्खे हैं। इस वस्तु को वे अपने दोनों हाथ से थामे हुए हैं। यह बतलाना कठिन है कि इन मृण्मूर्तियों को इन रूपों में बनाने का क्या ध्येय था। मार्शल की धारणा है कि ये किसी मंदिर की उपासिका हैं और वे किसी पवित्र या पूजन वस्तु को सिर पर रक्खे हैं। इसी तरह एक उदाहरण में स्त्री हाथ में आहुति-आधार पकड़े है। कुछ मृण्मूर्तियों में स्त्रियाँ तीन पैरोंवाली कुर्सियों पर बैठी हैं। इनको किस ध्येय से बनाया गया था यह बतलाना कठिन है। प्रकृति या उपज की देवी का चित्रण हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर स्पष्ट है। इस पर अंकित स्त्री के गर्भ से वृक्ष निकल रहा है।[3] मोहें-जो-दड़ो से एक ऐसी मुद्रा प्राप्त हुई है जिसमें संभवतः वृक्ष देवता को बलि देने का दृश्य चित्रित है। इसमें एक ओर ऊपर पंक्ति में कुछ नग्न व्यक्ति खड़े हैं। नीचे एक

---

[1] काला, टे० फि० कौ०, चि०, ६-७ [2] वत्स, ए० ह०, जि० १, पृ० ३०० [3] मुकर्जी, हिं० सि०, पृ० २० (१९५०)

झुकी हुई आकृति हाथ में चौड़े फलवाला हथियार लिये है। इसके ठीक सामने एक बकरा है। इसके मुँह के निकट पेड़ जैसी वस्तु अंकित है।[१] मैके को ऐसे ही विषय की एक और मुद्रा मिली थी। इसमें पीपल के वृक्ष के बीच वृक्ष देवी खड़ी हैं। सामने एक झुकी आकृति है, जिसके पीछे मनुष्य की आकृति किंतु बकरे का शरीर धारण किये एक पशु भी खड़ा है। नीचे सात आकृतियाँ पत्तों की शिरोभूषा पहिने खड़ी हैं।[२]

सिंधु प्रदेश तथा पंजाब के भग्न नगरों से प्रागैतिहासिक युग की थोड़ी सी पुरुष आकृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इनका संपूर्ण शरीर प्रायः नग्न ही है। बाल लंबे काढ़कर पीछे की ओर एक गाँठ में समेटकर रख दिये गये हैं। केवल थोड़े से उदाहरणों में हाथ बच गये हैं। वे दोनों ओर सीधे नीचे लटके दीख पड़ते हैं। एक अन्य विचित्र मुद्रा में दो हिरनों के शरीर से जुड़ी आकृति मनुष्य के गले से निकल रही है। हिरन दायें बायें होकर फिर अपना चेहरा एक दूसरे के सामने किये हैं। बीच में पीपल के वृक्ष की टहनी है।

मैके को एक ऐसी मुद्रा मिली है जिसमें कि संभवतः भगवान् त्रिनयन शिव का चित्रण है। मुद्रा के मध्य में एक तिपाई पर पलथी मारे तथा यौगिक आसन में त्रिमुख शिवजी बैठे हैं। सिर के ऊपर त्रिशूल जैसी कोई वस्तु रक्खी है। हाथ बाजूबंदों से भरा तथा वक्ष पर भी कोई तिकोना वस्त्र पड़ा है। शिवजी का शरीर नग्न है। भगवान् की दायीं ओर हाथी तथा व्याघ्र अंकित हैं। बायीं ओर गैंडा और भैंस तथा सामने एक दो श्रृंगी हिरन है। मुद्रा के ऊपर छः शब्दों का लेख भी है। पशुओं के बीच में रहने के कारण कहा जाता है कि यह शिवजी का पाशुपत रूप है। सिर पर जो सींग सा मालूम होता है वह निःसंदेह त्रिशूल का ही कोई पूर्व रूप है। वैसे हम यत्र-तत्र देखेंगे कि सिंधु-सभ्यता तथा पूर्वी मध्य देशों में सींगों को धारण करने की प्रथा थी। प्राचीन काल में सींगों का विशिष्ट धार्मिक महत्त्व जान पड़ता है। सुमेर, बेबीलोन तथा ईरान में तो राजा तथा पुरोहित दोनों सींगों को सिर पर पहिनते थे। मथुरा में भी कुषाण काल के निकट किसी समय अंकित मेष के सींगों से अलंकृत पत्थर का एक सिर मिला है। जान पड़ता है कि मथुरा की कला में इस सिर का अंकन ईरानी सभ्यता के प्रभाव से हुआ था।[३] ऐसे ही दो सींग मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त धातु की आकृति तथा मुद्राओं पर भी दीख पड़ते हैं।

ऐतिहासिक युग में शिवजी की मूर्तियाँ प्रायः २, ३ तथा ४ मुखों की मिलती हैं। किंतु भारतीय शिल्प की मध्यकालीन पूर्वी शाखा में शिवजी की एक, चार और पाँच मुखोंवाली मूर्तियाँ ही मिली हैं। त्रिमुख मूर्ति का कोई उदाहरण इस शाखा में अब तक नहीं पाया गया है।

वैदिक युग तथा उसके बाद भी शिवजी के त्रिमुख रूप का वर्णन नहीं मिलता। इधर उधर 'त्र्यम्बक्' शब्द का उल्लेख अवश्य पाया जाता है। इसका अर्थ संभवतः तीन माताओं से जन्मे देवता का है। मोहें-जो-दड़ो की मुद्रा पर अंकित शिव आकृति में तीन देवताओं (जिनकी तीन अलग-अलग माताएँ थीं) को संभवतः एक रूप में प्रदर्शित करने का एक प्रयत्न किया गया है।[४]

---

[१] मार्शल, मो० इं० सि०, जि० १, पृ० ३६२ [२] मैके, फ० ए० मो०, जि० १, पृ० ३३७-८ [३] अग्रवाल, ए हैंडबुक आव् दि मथुरा म्यूज़ियम (हि०) नं० १८ (बी) [४] ज० इं० सो० ओ० आ०, अगस्त-सितंबर, १९३७, पृ० ७९

मार्शल को इस मुद्रा में चित्रित शिव आकृति में लिंग नहीं दीख पड़ा। किंतु ध्यान से निरीक्षण करने पर पता लगा है कि आकृति का उर्ध्वलिंग भी है। प्राचीन साहित्य के कई स्थलों पर लिखा है कि शिव मूर्तियों में ऊर्ध्वलिंग का होना आवश्यक है। ऊर्ध्वलिंग सहित शिवजी की अनेक मूर्तियाँ भारत के पूर्वी भाग, बिहार, उड़ीसा तथा बंगाल में मिलती हैं। लिंग सहित शिवजी को पूजने की प्रथा सिंधु-सभ्यता के लोगों को भी ज्ञात थी।[1]

चीनी मिट्टी की एक अन्य मुद्रा पर भी संभवतः शिवजी का चित्रण है। इसमें भगवान् शिव योगासन में बैठे हैं। उनके दोनों ओर घुटनों के बल बैठे हुए दो नाग हैं। सामने घेरा बाँधकर दो और नाग बैठे हैं। शिवजी के गले में प्रायः सर्प लिपटे रहते हैं। संभव है इस मुद्रा में शिवजी का संबंध नागों से दिखलाया गया हो। एक अन्य मुद्रा में एक शिकारी हाथ में धनुष-बाण लिये हुए है। कतिपय विद्वानों ने इसे शिवजी का किरात रूप माना है।

ऋग्वेद में 'रुद्र' का हम यत्र-तत्र वर्णन पाते हैं। वेदों में रुद्र को विद्युत्-शक्ति का प्रतीक माना गया है। वह पशु-पक्षियों का वध करते हैं इसलिए उनकी रक्षा का भार भी उन्हीं के ऊपर छोड़ दिया जाता है, ऐसा अथर्ववेद में लिखा है। ब्लिकेनबर्ग ने कई देशों की संस्कृति का उदाहरण प्रस्तुत कर यह निष्कर्ष निकाला है कि पत्थर के टुकड़ों को विद्युत् मानकर उसकी विशद पूजा की जाती थी। दक्षिण भारत में तो अभी तक ऐसी पूजा वर्तमान है। आश्चर्य है कि वहाँ एक लिंग रूप में कटे पत्थर के टुकड़े के ऊपर त्रिशूल भी पड़ा था। कहीं-कहीं तो 'विद्युत्' माने जानेवाले पत्थरों एवं लिंगों में अंतर दिखलाना भी कठिन हो जाता है। मोहें-जो-दड़ो के 'लिंगों' और इन पत्थरों में समानताएँ देखकर अनुमान होता है कि सिंधु प्रदेश में प्रधानतया रुद्र की उपासना ही प्रचलित थी।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में पत्थर, सीपी, चीनी मिट्टी, नकली कारनीलियन, लाल या नीले रेतीले पत्थर आदि पदार्थों में बने कई लिंग मिले हैं। इनके वास्तविक प्रयोग के संबंध में अलग-अलग धारणाएँ हैं, किंतु यह कहा जा सकता है कि लोग छोटे आकार के लिंगों को अपने पास रख लेते थे। इनमें दो प्रकार के लिंग बीटल्स (सिर पर नुकीले) तथा फैलिक (सिरे पर गोल कटे) हैं। कुछ की बनावट ऐसी है कि उनको लिंग मानने में शंका हो ही नहीं सकती। बलूचिस्तान में आरियल स्टीन को लिंगों के अतिरिक्त योनियाँ भी मिली थीं। इनमें कुछ तो काफ़ी भारी और कई आकारों की हैं। बीटल्स का आकार प्रायः २ से ४' ऊँचा तक है। इनका डौल आजकल के शिव लिंगों जैसा है। इस शैली के लिंग पश्चिमी एशिया के कई स्थानों में भी मिले हैं। जान पड़ता है कि प्रस्तर ताम्रयुग में संसार के अनेक देशों में लिंग-पूजा की प्रथा थी। मिश्र, यूनान तथा रोम में 'फालसंट' नामक पूजा होती थी। उसका संबंध भी लिंग-संप्रदाय से था। भारत में कैसे लिंग तथा योनि की उत्पत्ति हुई यह कहना कठिन है। बार्थ कहते हैं कि किसी युग में देवताओं के प्रतीकों की खोज में अकस्मात् हिंदुओं को योनि और लिंग मिल गये। ऐसी आकस्मिक प्राप्ति उन लोगों (जो ईश्वर को बैल तथा पुरुष रूप में मान सकते थे) के बीच अस्वाभाविक नहीं जान पड़ती।[2] लिंग का उल्लेख वेदों तक ही सीमित ही है। पौराणिक काल में लिंग पूजा विशद रूप में थी। विष्णु पुराण में लिंग तथा योनि

---

[1] इंडियन कल्चर, अप्रैल १९३६, पृ० ७६७ [2] बार्थ, रि० इं० पृ० २६१

की पूजा साथ-साथ चलती थी। किंतु लिंग की सर्वप्रथम विशेष महत्ता रामायण काल में ज्ञात होती है। कहा जाता है कि रावण ने सुवर्ण का एक लिंग बनवा रखा था। वह जहाँ भी जाता इस लिंग को अपने साथ अवश्य ले जाता था। क़ीमती पत्थर की लिंग जैसी कुछ वस्तुओं को पाँसे की गोटें मान सकते हैं। कुछ उदाहरणों को ताबीज़ भी माना जा सकता है। मैके का कहना है कि कुछ लिंग-रूप के पत्थरों से लोढ़े या मूसली का काम लिया जाता था। कुछ उदाहरणों में ऐसे पत्थरों का तला घिस गया है, जिससे कि इस धारणा की पुष्टि में सहायता मिलती है।

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में पत्थर के कई बड़े-बड़े छल्ले या मंडल (रिंग-स्टोन) भी मिले हैं। घेरे में इनका आकार आध इंच से लेकर चार इंच तक है। लिंगों की तरह छोटे आकार के ये छल्ले हड्डी, सीपी, चीनी मिट्टी आदि-आदि पदार्थों के बने हैं। बड़े छल्ले दृढ़ चूने के पत्थर से काटे गये हैं। इनका तला तथा ऊपरी भाग समतल होता था। ये बड़ी सफाई के साथ कटे हैं किंतु इनकी बाहरी सतह पर किसी भी उदाहरण में पालिश नहीं है। यह बतलाना कठिन है कि इन मंडलों का वास्तविक प्रयोग क्या था। मैके का अनुमान है कि इनमें से कुछ तो स्तंभों के आधार थे। कुछ पर तो विंदुरूप के अंक खुदे हैं। पत्थर के कोई स्तंभ अभी तक मोहें-जो-दड़ो में नहीं मिले हैं। यह हो सकता है कि मूल्यवान होने के कारण नगर के उजाड़ होने पर लोगों ने यह स्तंभ तोड़ डाले और उनके विभिन्न भागों को इधर-उधर कर दिया। इस विध्वंस का एक प्रमाण यह भी है कि पत्थर के ये मंडल ढेर के रूप में खुदाइयों में निकले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं ले जाने के लिए इन मंडलों को एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया गया था।[1]

दूसरी धारणा यह है कि ये मंडल 'योनियाँ' थीं। योनियों का महत्त्व कई स्थानों में आज दिन तक बना है। हम पहिले लिख चुके हैं कि भारत के कई स्थानों से मौर्य्यकालीन ऐसे छोटे मंडल मिले हैं जिनके अंदर मातृदेवी की नग्न मूर्त्तियाँ अंकित हैं। उधर बलूचिस्तान में भी योनियाँ मिली हैं। हम अभी लिंगों का विवरण दे चुके हैं और इनके साथ योनियों का होना स्वाभाविक ही है। इन वस्तुओं का संबंध शैव धर्म से रहा होगा। यह हो सकता है कि इनमें कुछ मंडल स्तंभों के लिए भी बने थे।

मातृदेवी की मूर्तियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है, किंतु यह कहना कठिन है कि सिंधु-सभ्यता में शाक्त धर्म का भी कुछ प्रभाव था। वैसे शाक्त धर्म का मातृदेवी-सम्प्रदाय से विशेष संबंध है।[2] अन्यत्र हम लिख ही चुके हैं कि एक मुद्रा में बकरे को बलि दिये जाने का दृश्य अंकित है। आज दिन भी काली और दुर्गा को बकरे की बलि दी जाती है।

मोहें-जो-दड़ो में एक विचित्र मिट्टी की मूर्त्ति मिली है। इसमें विपरीत दिशाओं में ठप्पों से निकाले हुए दो सिर जोड़े गये हैं। मूर्ति का गले से नीचे का भाग खंडित हो गया है। यह द्विमुख कौन सा देवता है इसको बतलाना कठिन है।

सिंधु प्रदेश तथा पंजाब के प्रागैतिहासिक स्थानों में ताबीज़ों, मुद्राओं तथा मिट्टी की पट्टियों में अनेक जाति के पशुओं का चित्रण हुआ है। पुरातत्त्ववेत्ताओं की धारणा है कि ये पशु किसी धार्मिक भावना या उद्देश्य से चित्रित किये गये थे। मार्शल का मत है कि सिंधु-सभ्यता के लोग तीन प्रकार के पशुओं (१) दैवी पशु, (२) कुछ ऐसे पशु जिनकी उत्पत्ति तथा महत्त्व काल्पनिक तथा अज्ञात है तथा (३) वास्तविक पशुओं की पूजा करते थे।

[1] मैके, फ० ए० मो०, जि० १, पृ० २६७ [2] इं० हि० क्वा०, मार्च १९३२, पृ० ३६-४०

प्रथम वर्ग के पशुओं का अवलोकन कर तो बड़ा कौतूहल होता है। इनमें पशुओं के वास्तविक रूप को भग्नकर उन्हें दंती रूप दे दिया गया है। ठीक यही बात मनुष्य आकृतियों में भी है। किसी में चेहरा तो बकरी जैसा, किंतु धड़ तथा पैर मनुष्य की तरह दिखलाये गये हैं। कुछ में चेहरे तो मनुष्य जैसे हैं, किंतु शरीर बैल, बकरी या हाथी के शारीरिक अवयवों से बने हैं। एक मुद्रा में सिर तो बाघ का है किंतु शरीर साँप की पूँछ जैसा है। बाघ के सिर पर तीन सींग भी हैं। सींग भी तीन भिन्न-भिन्न पशुओं के लगाये गये हैं।एक अन्य मुद्रा में नील गाय, आल्प्स पर्वत के बकरे तथा एक-शृंगीं पशु के सिर चित्रित किये गये हैं। दूसरे विचित्र दृश्य में एक अर्ध मनुष्य तथा अर्ध पशु-आकृति एक-शृंगी बाघ पर आक्रमण कर रहा है। सुमेर-साहित्य में वर्णित "इन किदू" या ईवानी का रूप भी ऐसा ही था।[1] ताम्र की एक मुद्रा तथा तावीज़ पर एक ऐसा विचित्र पशु अंकित है जिसके शरीर के प्रारंभ तथा अंत में एक शृंगी पशु के सिर जुड़े हैं। यह पशु निस्संदेह काल्पनिक था और सिंधु-सभ्यता के लोग इसमें कुछ जादू का तत्व समझते थे। एक उदाहरण में पशु के अगले पैर तो बाघ के तथा पिछले बैल या अन्य ऐसे किसी पशु के जैसे लगते हैं। दूसरे उदाहरण में, पशु का शरीर हाथी तथा बैल के शारीरिक अव्ययों से बना है।

सींगों के महत्व के विषय में पहिले उल्लेख हो ही चुका है। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में वास्तविक सींग भी प्राप्त हुए हैं। इनमें नील गाय के सींगों की मांग अधिक जान पड़ती है। नील गाय अधिकतर इलम तथा सुमेर में ही मिलती है और संभव है उसी देश से इस पशु के सींगों को पवित्र मानने की परंपरा प्रारंभ हुई हो।

एक उभरे हुए स्तनोंवाली स्त्री के सिर पर सींग से दीख पड़ते हैं। किंतु कुछ विद्वानों ने इन्हें सींग मानने में आपत्ति की है। मैके कहते हैं कि सींगों के स्थान पर संभवतः चार पत्ती हैं। यदि सचमुच में यह आकृति सींग पहिने है तो यह कहा जा सकता है कि सींग धारण किये यही एकमात्र उदाहरण सिंधु-सभ्यता के भग्न स्थानों से मिला है। सींग धारण किये पुरुषों की तो कई मृण्मूर्तियाँ खुदाइयों में निकली हैं। एक उदाहरण में पुरुष के गले पर पाटे (कालर) जैसी वस्तु भी पड़ी है। इसके सिर पर केवल एक सींग रह पाया है। दूसरी मृण्मूर्ति में सिर के ऊपर दो ऊंचे सींग जिनकी नोक टूट गई हैं, जुड़े हैं। सींगोंवाले मुखारे खुदाइयों में निकले हैं। ये ठप्पों से निकाले गये हैं। मुखारे तो लकड़ी या अन्य किसी वस्तु के ऊपर लगाये जाते रहे होंगे। नीचे की तह के मुखारे तो मंगोलियन जाति के लोगों के से लगते हैं। यह भी संभव है कि हानिकारक या अपशकुनी आत्माओं के भय से इन मुखारों को दरवाजों के ऊपर लगा दिया जाता था। इस शैली के अनेक मुखारे किश तथा सूसा में भी मिले हैं। ताम्र पर अंकित कई आकृतियों में भी सींग दीख पड़ते हैं। इनका उल्लेख इस पुस्तक के कई स्थलों पर पहिले हो चुका है।

धार्मिक विश्वासों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि मनुष्य रूप प्राप्त करने से पहिले देवता, पशु रूप में ही पूजे जाते थे। कालांतर में पशुओं का स्थान मानव आकृतियों ने ले लिया परंतु शक्ति के प्रतीक के रूप में सींगों की परम्परा कुछ दिन और चलती रही।

दूसरे प्रकार की पशु-पूजा में अधिकतर एकशृंगी पशु है। यह पशु विशद रूप में मुद्राओं पर चित्रित किया गया है और निस्संदेह इसका कोई विशेष महत्त्व था। वह भी दंती पशु ही लगता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि एक चरणी (प्रोफाइल) में अंकित होने के कारण एक

[1] आ० स० रि०, १९२९-६, पृ० ६६

सींग पीछे छिप गया है किंतु इस धारणा को एकाएक मानना उक्ति संगत नहीं क्योंकि कई अन्य उदाहरणों में पशु के पार्श्विक ढंग से चित्रित होने पर भी दो सींग स्पष्ट हैं। एक शृंगी पशु का शरीर प्रायः लम्बा बना होता है। इसके पैर बैल जैसे लगते हैं। एक कान ऊपर की ओर खड़ा रहता है। कूबड़ के स्थान या पीठ पर घोड़े के ज़ीन जैसी वस्तु भी पड़ी रहती है। गले में तार की छल्लाओं से बनी कोई वस्तु बँधी है। कभी-कभी ये छल्ले मुँह के निचले जबड़े तक पहुँच गये हैं। पशु का मुँह ऊपर की ओर मुड़ा है। सिर के नीचे एक लम्ब आधार है। इसको दो भागों में जोड़ा गया था और जान पड़ता है कि ये आधार कभी-कभी अलग से पूजे जाते थे। वत्स का अनुमान है कि लंब आधार इस पशु के आगमन से पहिले भी प्रचलित थे। खुदाइयों में तीन छोटी मुद्राएँ भी मिली हैं जिनमें केवल लम्ब आधार मात्र चित्रित हैं। मुद्राएँ मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा के उन स्तरों में पाई गई हैं, जहाँ कि एक शृंगी पशुओंवाली मुद्राओं का अभाव था। इसके ऊपरी पात्र में धूप आदि कोई पवित्र वस्तु जलाई जाती तथा निचले भाग में आग रखी जाती होगी। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा में अंकित लम्ब आधार के निचले पात्र से धुएँ की लपटें निकलती दीख पड़ती हैं।[1] ऊपर का जालीनुमा भाग संभवतः धातु का बनाया जाता था। यह ज्ञात नहीं है कि यह लम्ब आधार भूमि में किस प्रकार खड़ा किया जाता था।

स्तंभों की परंपरा के विषय में भी कुछ उल्लेख करना आवश्यक है। अशोक या उससे पहिले के स्तंभों के ऊपर विद्वानों ने बहुत प्रकाश डालने का यत्न किया है, अतएव उसके यहाँ पर उल्लेख करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं जान पड़ती। इन स्तंभों को बौद्ध-धर्म के अनुगामियों ने तो लेखों तथा राजाओं ने सीमा निर्धारित करने के लिए ही प्रधानतया स्थापित किया। जैन धर्म में इन्हें दीप-स्तंभ तथा वैष्णव धर्म में 'गरुड़ध्वज' नाम प्राप्त हुआ।[2] 'यूपों' के अतिरिक्त प्राचीन भारत में रण-स्तंभ, मान स्तंभ तथा कीर्ति-स्तंभ आदि नामों के स्तंभ भी थे। स्तंभों के ऊपर पीठिकाओं पर पशु या कल्पवृक्ष रक्खे जाते थे, जिनसे कि उनकी पवित्रता भी सिद्ध होती है। इन सब उदाहरणों से ज्ञात होता है कि स्तंभों की परम्परा इस देश में बहुत पहिले से थी और इसकी कल्पना स्वतंत्र रूप से युग-युग में उद्भासित होती रही।

मोहें-जो-दड़ो निवासी योग की प्रणालियों से भी परिचित थे। वेद, पुराण तथा तंत्र इन तीनों की दृष्टि से योग एक अति प्राचीन संप्रदाय माना जाता है। प्राचीन योग शास्त्रों में लिखा है कि योग-साधन के लिए तीन आवश्यक तत्त्व हैं—(१) उचित आसन की व्यवस्था (२) मस्तक, धड़ तथा ग्रीव को ऊँचा रखना तथा (३) अर्द्धनिमीलित नेत्र जो नासिका के अग्र भाग पर स्थित हों। रामप्रसाद चंदा का मत है कि मोहें-जो-दड़ो से पुजारी की जो मूर्त्ति मिली है उसमें योग की मुद्रा का आभास मिलता है।[3] इस मूर्त्ति का उल्लेख अगले पृष्ठों में किया जा रहा है। चीनी मिट्टी की पट्टी पर बैठी तथा नागों द्वारा पूजित मूर्ति एवं पाशुपत शिव की मूर्ति से भी ज्ञात होता है कि वे योगासन की मुद्रा में हैं। इनके अतिरिक्त लगभग छः मुद्राओं पर अंकित आकृतियाँ कायोत्सर्ग मुद्रा की दशा को सूचित करती हैं।

प्राचीन काल के समाज में परिव्राजक साधुओं का एक भ्रमणशील वर्ग था। ये लोग जितेन्द्रिय होते थे। इस संप्रदाय के अनुगामी आजदिन भी मेलों के अवसरों पर अखाड़ों में दीख पड़ते हैं। वायु पुराण के पाशुपत विषयक अध्यायों में योग की जिन दशाओं का वर्णन

[1] वत्स, य० ह०, जि० १, पृ० ३२१ [2] रूपम, जुलाई १९२२, पृ० ६६ [3] माडर्नरिव्यू, जि० १२, १९७

है उनका बहुत कुछ अंकन मोहें-जो-दड़ो में प्राप्त मूर्तियों तथा मुद्राओं पर मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रागैतिहासिक युग में जो योगी सिंधु-प्रदेश में रहते थे, उनकी योग-साधना ही पाशुपत योग का प्रारंभिक रूप थी।[1]

हरिण का चित्रण थोड़ी सी ही मुद्राओं पर हुआ है, यद्यपि सुमेर तथा इलम में इस पशु को बड़ा महत्त्व प्राप्त हुआ। मोहें-जो-दड़ो के कुछ उदाहरणों में इसकी आकृति बैल जैसी लगती है। संभवतः यह पशु वेदों में वर्णित 'गोमृग' का ही कोई रूप है।[2]

चीनी मिट्टी की एक मुद्रा पर नाग के सम्मुख अर्चना करती हुई एक झुकी आकृति है। खेद है कि अधिक घिस जाने के कारण इस दृश्य में अंकित कुछ मनुष्य पहचाने नहीं जा सकते हैं। दूसरी मुद्रा में एक आकृति तख्ती के ऊपर बैठी है। दोनों ओर नाग-पुजारी खड़े हैं। पुजारियों के पीछे फण उठाये एक एक नाग भी है। इस दृश्य से स्पष्ट है कि सिंधु-सभ्यता में नाग-पूजा का स्थान भी था।

मिट्टी के बने डंडे की आकृति के एक ताबीज़ पर ठप्पे से कुछ दृश्य अंकित हैं। इसमें एक चबूतरे पर नाग लेटा है। इसके निकट ही एक वृक्ष तथा दो शब्दों की चित्र-लिपि है। मैके ठीक कहते हैं कि ऐसी पीठिकाओं या चबूतरों पर नाग के लिए दूध, भोजन आदि वस्तुएँ रखी जाती रही होंगी।

वेदों से नागपूजा के विषय में कोई पता नहीं चलता, किंतु सूत्रों के पूर्व साहित्य में नाग-पूजा का प्रायः उल्लेख आया है।

वास्तविक पशुओं की पूजा में भैंस, भारतीय नील गाय, बैल, हाथी, गैंडा, बाघ तथा छोटे सींगवाले बैलों का चित्रण प्रायः मुद्राओं पर मिलता है। जान मार्शल की धारणा है कि प्रस्तर ताम्र-युग में ये सब पशु पंजाब तथा सिंधु प्रदेश में थे। माडल किये कुछ खिलौने प्राकार-मूलों पर भी स्थित थे। ये संभवतः किसी संध्या या पूजा के कमरे में स्थापित किये जाते रहे होंगे। इनमें अधिकतर पशुओं का धार्मिक महत्त्व रहा होगा।

भैंस का चित्रण आठ उदाहरणों में मिला है। इनमें पशु के सम्मुख प्रायः भोजन का का पात्र रखा रहता है। एक ताबीज़ में अंकित दृश्य में भैंसा कुछ लोगों पर धावा कर विजयी के रूप में अलग जाकर खड़ा है। दूसरे में वह एक मनुष्य को सींगों के ऊपर उठाए दीख पड़ता है।[3] भैंसे का सिर एक अन्य दृश्य में भी है। बैठे हुए एक पशु के सींग तथा शरीर तो भैंसे जैसे हैं, किंतु शरीर का अग्र भाग हाथी की सूँड़ की शक्ल में है। इस विचित्र आकृति का क्या अर्थ था, यह बतलाना कठिन है। संभव है प्रतीक के रूप में यह आकृति भैंस तथा हाथी की शक्ति की द्योतक रही हो। आजकल भैंस, देवी दुर्गा का वाहन है, किंतु उस काल में इस पशु का क्या महत्त्व था यह कहना कठिन है। नाग का संबंध भी दुर्गा या भवानी से है। हाथी इंद्र, तथा बैल शिवजी का वाहन है। इसी प्रकार घड़ियाल गंगा का वाहन है। भारतीय तक्षण कला के कई उदाहरणों में पशु देवी-देवताओं के साथ अंकित हुए हैं।

सबसे प्रिय पशु कूबड़ या बिना कूबड़ के बैल थे। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में कलाकारों ने इस पशु को अंकित करने में बड़ी सावधानी से काम लिया है। इसके गले में कभी-कभी

---

[1] कल्याण, योगांक, पृ० २३७ [2] आ० स० मे०, नं० ४८, पृ० ९२ [3] मैके, अ० इं० सि०, पृ० ६४

माटा जैसी-वस्तु पड़ी रहती है। मोहें-जो-दड़ो से ताम्र में निर्मित एक अलौकिक कूबड़दार बैल का खिलौना मिला है। इसका मुँह नीचे की ओर झुका है और कान तथा सींग किसी कपड़े से बँधे हैं। पशु एक समूचे धातु के टुकड़े से काटकर बना है और यह एक गोल छल्ले जैसे आकार पर स्थित है। कदाचित् इस गोल छल्ले का भी कोई धार्मिक महत्त्व रहा हो। मुद्राओं पर अंकित बैलों का सिर कुछ झुका है, जिससे ज्ञात होता है कि वे धावा करने की मुद्रा में हैं। मुँह के ठीक नीचे तसला जैसी वस्तु भी कभी-कभी रक्खी दीख पड़ती है। यह तसला मिट्टी का बना रहता होगा, किंतु मार्शल के अनुसार एक उदाहरण में बुनी हुई टोकरी भी पशु के मुँह के नीचे रक्खी है। एक अन्य मुद्रा में पशु के सम्मुख प्याले जैसा पात्र है।

मुद्राओं के अतिरिक्त हाथ से बने बैल के खिलौने भी प्रचुर मात्रा में मिले हैं। इनमें कोई विशेषता नहीं है। संभवतः ऐसे कुछ खिलौने गाड़ियों में भी प्रयोग होते थे। चन्हूदड़ो की खुदाइयों में बहुत से बैल के मिट्टी के खिलौने मिले हैं। इनके गलों पर प्रायः छिद्र बने हैं और यह अनुमान किया जाता है कि छिद्रों में लकड़ी डालकर उन्हें बच्चे गाड़ी की तरह चलाते थे।[1] स्मरण रहे कि मोहें-जो-दड़ो या हड़प्पा से प्राप्त पशु खिलौनों के गलों पर कभी भी छिद्र नहीं दीख पड़ते। तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि सिंधु प्रदेश तथा पंजाब में कई जाति के बैल थे, जिनमें कई तो अब लुप्त हो चुके हैं।

ऐसा ज्ञात होता है कि सिंधु-सभ्यता की धार्मिक पद्धतियों में बैलों का विशेष भाग था। मानसार में भी मिट्टी में बने वृषभ का उल्लेख है।[2] मोहें-जो-दड़ो में एक अति महत्त्वपूर्ण सिर प्राप्त हुआ है। इसके तले पर एक त्रिकोण बना है। अनुमानतः यह सिर किसी आधार पर टिकाया जाता रहा होगा। इस बैल के सींग तथा कान टूट गये हैं। किंतु यह स्पष्ट है कि शरीर के भाग अलग से बनाकर भी जोड़े जाते थे।

बैल का सिंधु प्रदेश में ही नहीं वरन् संसार के सभी प्राचीन देशों में महत्त्व था। पश्चिम एशिया के निवासी बैलों की देव रूप में पूजा करते थे। असाधारण शक्ति के परिचायक रूप में कई देशों में राजा शिरोभूषा पर सींगों को लगाया करते थे। प्राचीन उर में बैलों का कई प्रकार से चित्रण हुआ है। वहाँ 'राजा की क़ब्र' से प्राप्त एक वाद्य यंत्र का सिरा बैल के सिर जैसा बना मिला है, यह अंदर से तो लकड़ी, परंतु बाहर से सोने की एक पतली चद्दर से मढ़ा था।[3] उर में ताम्र के छोटे-छोटे बैलों के खिलौने भी मिले। ऐसा कहा जाता है कि उर में बैल द्वारपालों का भी काम देते थे। वहाँ के निवासियों का यह विश्वास था कि ये पशु असाधारण शक्ति रखते हैं। इस कारण उनके द्वारपाल होने से बुरी आत्माएँ भीतर प्रवेश नहीं करतीं।

हाथी का चित्रण ताम्र पट्टियों तथा मुद्राओं पर प्रायः मिलता है इस पशु का चित्रण भी बड़ा सुंदर हुआ है। इसके शरीर के भागों की परतें तथा अन्य अवयवों के प्रदर्शन में कलाकार ने बड़ी सावधानी के साथ काम लिया है। केवल एक उदाहरण में हाथी के सम्मुख गेंद सी वस्तु रक्खी है। अधिकतर पशु भारतीय ही लगते हैं, यद्यपि एक उदाहरण में हाथी की पीठ कुछ ढालुआँ है। इस जाति के हाथी प्रायः अफ्रीका में पाये गये हैं। मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो में हाथी संभवतः पवित्र माना जाता था। हाथी की परम्परा इस देश में अति प्राचीन है। यह पशु भगवान् इंद्र का वाहन है। महात्मा बुद्ध भी अपनी माता के गर्भ से हाथी के रूप में ही अवतरित

---

[1] मैके, च० ए०, पृ० १५६ [2] आचार्य, मानसार, ६३१९-७ [3] गैड, हिस्ट्री आफ् मानुमैंट्स इन उर, पृ० ३१

हुए थे। यह कहना कठिन है कि हाथी को सिंधु-सभ्यता के नायक किस रूप में पाला करते थे। संभव है कि आजकल की तरह राज्य के उच्चाधिकारी या प्रतिष्ठित व्यक्तियों के पास हाथी रहा करते हों। इसके पालन तथा पोषण की विशेष समस्या रही होगी। आजकल हाथी विशेषतया भारत के दक्षिण तथा पूर्वी भागों में पाया जाता है, किंतु जब अनुकूल जलवायु थी तो यह पशु भारत के उत्तर तथा पश्चिमी भाग में भी विचरण करता था।

मोहें-जो-दड़ो की सात तथा हड़प्पा की दो मुद्राओं पर गैंडे का भी चित्रण है। इस पशु से भी कलाकार घनिष्ट रूप में परिचित थे। पशु के शरीर की खाल की झुर्रियाँ बड़ी सावधानी के साथ दिखलाई गई हैं। इसके मुँह के नीचे भी एक नाँद-सी रक्खी है। हाथ से बने गैंडे के खिलौने भी मिले हैं। इनकी रूपरेखा निम्न है और ऐसा ज्ञात होता है कि उनका निर्माण बच्चों ने किया होगा। पशु के यत्र-तत्र चित्रण से ज्ञात होता है कि उसका निवास स्थान सिंधु प्रदेश या पंजाब के ही किसी निकटवर्ती भाग में था। नील गाय का भी अंकन मुद्राओं में हुआ है।

सिंधु-सभ्यता के अनुसरण करनेवाले व्यक्ति बकरों से भी विज्ञ थे। एक मुद्रा के ठप्पे पर मुड़े हुए सींगों का एक बकरा चित्रित है। पशु के गले में तीन मालाएँ पड़ी हैं। यह अपने ढंग का सर्वप्रथम उदाहरण है।[1]

दो मुद्राओं में देव आकृतियों के सम्मुख बकरे खड़े हैं।[2] एक अन्य उदाहरण में बकरा पैरों के बल पीछे खड़ा होकर एक पेड़ से कुछ पत्तियाँ नोचता दृष्टिगोचर होता है। कुछ मुद्राओं में मानव आकृतियों का चेहरा बकरी का सा है। कुछ मनुष्य इस पशु के सींगों को भी सिर पर धारण किये हुए हैं। हाथ से बने हुए कई मिट्टी के खिलौने भी मोहें-जो-दड़ो में प्राप्त हुए हैं। इनमें पशु के सींग तथा दाढ़ी के अंकन पर विशेष ध्यान दिया गया है। मिट्टी के अतिरिक्त दो उदाहरणों में बकरी पीतल में भी अंकित हुई है।[3] इनमें एक अति दर्शनीय बकरी का खिलौना धातु के पात्रों के साथ ताम्र की कलशी के अंदर प्राप्त हुआ था। मैके का अनुमान ठीक ही है कि इस माध्यम में बने खिलौनों का सीमित प्रचार था। बकरे का चित्रण प्रायः मिट्टी के बर्तनों के ऊपर भी दीख पड़ता है। चन्हूदड़ो से प्राप्त कुछ बर्त्तनों की सतह पर बकरी पेड़ के पत्तों को चुनती दिखलाई गई है।[4] हड़प्पा से प्राप्त एक बर्तन पर अंकित एक विभिन्न दृश्य में भी बकरे का चित्रण है।[5] बकरे की कोई हड्डी मोहें-जो-दड़ो में नहीं मिली है। संभव है कि वे अब भौतिक या नोने के तत्त्वों द्वारा नष्ट हो चुकी हों। बकरी को उस काल में भी पवित्र माना जाता था, यह आकृतियों के सिरों पर लगे सींगों से स्पष्ट है। मोहें-जो-दड़ो में निश्चय ही बकरी पालतू रूप में घरों में पाली जाती थी।

भेंड़ भी सिंधु प्रदेश के लोगों को ज्ञात थी। यद्यपि जो कुछ भी उदाहरण अब तक प्राप्त हुए हैं उनमें तथा बकरे में भेद बतलाना कठिन है। एक उदाहरण में तो इसकी रुईदार खाल को रेखाओं द्वारा दिखलाया गया है। चीनी मिट्टी में इस पशु की कई सुंदर आकृतियाँ मिली हैं। यह पशु भी संभवतः सिंधु प्रदेश में पाला जाता था। खुदाई में ऊँट की हड्डियाँ भी मिली हैं। वैज्ञानिक परीक्षा से ज्ञात हुआ है कि मोहें-जो-दड़ो का ऊँट उसी जाति का था जिस वर्ग के पशु आज दिन भी शिवालिक पहाड़ियों के निकट मिलते हैं।

---

[1] मार्शल, मो० इं० सि०, जि० १, पृ० १०७ [2] मैके, फ० य० मो०, जि० १, पृ० ३३१ [3] मैके, फ० य० मो०, जि० १, पृ० २८२ [4] मैके, च० य०, जि० १, ६, २९ [5] वत्स, ए० हृ०, जि० १, पृ० २०८-९

कई मुद्राओं पर बाघ का चित्रण दीख पड़ता है। अधिकतर उदाहरणों में बाघ के गले तथा पिछले पैरों पर ही धारियाँ दिखलाई गई हैं। दंती आकृतियों में धारियों का वास्तविक अंकन संपूर्ण शरीर पर फैला दिया गया है। एक मुद्रा में बाघ का मुख खुला है। उसकी जीभ बाहर निकली दिखलाई गई है। शरीर पर दोहरी धारियाँ पड़ी हैं। कुछ उदाहरणों में बाघ के मुँह के नीचे वैसा ही पात्र पड़ा है जैसा कि हम बैलों के सम्मुख देखते हैं। चन्हूदड़ो की एक मुद्रा पर कोई मनुष्य पेड़ पर बैठा है। नीचे से एक बाघ उसकी ओर मुँह किये ताक रहा है। एक अन्य उदाहरण में मनुष्य बाघ को आह्वान सा दे रहा है।[1] सिंधु प्रदेश में आधुनिक काल में बाघ देखने को नहीं मिलता किंतु प्राचीन काल में जंगलों की अधिकायत होने के कारण यह पशु वहाँ विचरण करता रहा होगा।

घड़ियाल का चित्रण भी कुछ मुद्राओं पर मिलता है। दो उदाहरणों में इसके मुँह के अंदर मछली भी दीख पड़ती है।[2] चन्हूदड़ो से प्राप्त एक तावीज़ पर तीन घड़ियाल उभाड़ कर दिखलाये गये हैं। हड़प्पा में भी कई मुद्राओं पर घड़ियाल मछली का शिकार करते हुए चित्रित किया गया है।[3] घोंघे में कोरा गया घड़ियाल का एक सुंदर खिलौना मोहें-जो-दड़ो में मिला है। सिंधु प्रदेश के लोग कछुये से भी परिचित थे। इसके कुछ खिलौने मिले हैं। अभी तक सिंधु-सभ्यता के अवशेषों के बीच मेंढक कहीं देखने में नहीं आया, किंतु एक मुद्रा में घड़ियाल के साथ मेंढक जैसा पशु चित्रित किया जान पड़ता है।[4] खुदाइयों में घड़ियाल की कुछ जली हड्डियाँ भी प्राप्त हुई हैं और संभव है कि उस युग में इस पशु का मांस लोग खाते रहे हों।

अन्य पशु-पक्षी जो या तो मुद्राओं, चीनी मिट्टी या साबुन पत्थर आदि पदार्थों के खिलौनों के रूप में हैं, में गिलहरी, कुत्ते, मुर्गे, बंदर, भालू, खरगोश, बिल्ली, मोर, बतख तथा तोता उल्लेखनीय हैं। चीनी मिट्टी में बनी एक गिलहरी पिछले पैरों के बल बैठी दिखाई गई है। इसके दोनों हाथ मुँह की ओर गये हैं। पशु की पीठ पर तीन रंगीन धारियों का भी अलंकरण है। हड़प्पा से प्राप्त गिलहरियों की पीठ पर भी लाल-काले रंग की धारियाँ पड़ी हैं। इनके शरीर पर एक एक छिद्र भी बना है और ऐसा प्रतीत होता है कि इनको तावीज़ के रूप में शरीर पर पहना जाता था। खरगोश के खिलौने तो अति साधारण हैं। एक उदाहरण में कुत्ता खरगोश को मुँह में लिए हुए है। बंदरों के खिलौने भी मिले हैं। एक उदाहरण में वह बैठकर हाथों को घुटने पर रक्खे हैं। इसकी आँखों के छिद्र गहरे हैं और जान पड़ता है कि उनमें कुछ खोंसने की वस्तु रक्खी गई थी। हड़प्पा से प्राप्त एक मिट्टी के खिलौने में बंदर वृक्ष की टहनी पर चढ़ता दिखलाई देता है। बंदर टहनी को हाथ पैरों से कस कर पकड़े है। इसमें शरीर के बाल गहरी रेखाओं से दिखलाए गये हैं। हिंदू-धर्म में बंदर को पवित्र माना गया है।

यह ज्ञात नहीं है कि किन कारणों से शूकर के खिलौने मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो में बने। इस पशु की हड्डियाँ भी पाई गई हैं। यह पशु शायद पालतू था। इसका मांस तथा चमड़ा दोनों काम में आता रहा होगा। बिल्ली का कोई उदाहरण अभी तक मोहें-जो-दड़ो में नहीं मिला है। हड़प्पा से प्राप्त एक खिलौने को बिल्ली की आकृति माना गया है। किंतु यह संदेहजनक है।[5] बिल्ली सिंधु प्रदेश तथा पंजाब के लोगों को ज्ञात थी। इसका प्रमाण खुदाई में निकली पशु की हड्डियाँ आदि हैं।

---

[1] मैके, च० थ०, जि० १, पृ० १४७　[2] मार्शल, मो० इं० सि०, जि० १, पृ० ३८८
[3] वत्स, ए० ह०, पृ०३०३　[4] मैके, फ० ए० म०, पृ० ३३१　[5] वत्स, ए० ह०, जि०१,पृ० ३०१

मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में कुत्ता एक पालतू पशु था। इस पशु के खिलौने ताम्र, पीतल तथा मिट्टी के माध्यम में बनाये गये हैं। इन पशुओं के पैर जुड़े तथा पूँछ मुड़ी है। एक पशु के गले में पाटे (कालर) जैसी वस्तु भी पड़ी है। दूसरे वर्ग के कुत्तों के चेहरे लंबे तथा पूँछें खड़ी हैं। इसी जाति के कुत्तों का चित्रण मिश्र आदि देशों में भी मिलता है। इनमें कुछ कुत्ते तो शिकार के काम भी आते रहे होंगे। चन्हूदड़ो से प्राप्त एक ईंट पर कुत्ते के पैरों के चिन्ह भी अंकित हैं।[1] कुत्ता आज दिन कुछ कारणों से महत्वपूर्ण पशु माना जाता है। इसका संबंध रैवंत से है।

सिंधु-सभ्यता के लोगों को कहाँ तक घोड़े का ज्ञान था यह बतलाना कठिन है। मैके एक खिलौने को घोड़ा मानते हैं। इसकी सबसे बड़ी पहिचान यह है कि पूँछ पिछले दोनों पैरों के बीच दबी है। सिंधु-सभ्यता की तत्कालीन कई सभ्यताएँ घोड़े से परिचित थीं। यह आशा की जाती है कि निकट भविष्य में घोड़े के अस्तित्व के और ठोस प्रमाण हमें खुदाइयों में मिल सकेंगे।

बतख के कई खिलौने प्राप्त हुए हैं। यह पक्षी एक पीठिका पर बैठा पंख फैलाये दिखलाया गया है। इसी शैली के पक्षी क्रीट, इलम तथा सुमेर में भी मिले हैं। सुमेर में इसका संबंध 'निनखरसग' नामक मातृदेवी से था। सिंधु प्रदेश में भी यह पक्षी किसी देवी का वाहन या प्रतीक रहा होगा। अधिकतर खिलौने खंडितावस्था में हैं। यह अनुमान किया जाता है कि इनका हाथों द्वारा निरंतर प्रयोग होता था जिससे कि वे घिस गए हैं। चन्हूदड़ो में एक पीतल का बना बतख भी मिला है। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त मातृदेवी की एक मूर्त्ति की शिरोभूषा पर पंख फैलाये बतख से जैसे पक्षी बैठे हैं।[2] मध्य पूर्वी देशों, पंजाब तथा सिंधु प्रदेश की खुदाइयों में प्रायः एक ही शैली के बहुत से खिलौनों के मिलने से यह ज्ञात होता है कि इस पशु का इन देशों में विशेष धार्मिक महत्त्व था।

जंगली मुर्गों का उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। इसका चित्रण प्रायः मुद्राओं तक ही सीमित है। किंतु मोहें-जो-दड़ो में दो चार मुर्गों के कई सुंदर खिलौने भी मिले हैं। खिलौनों में नीचे लकड़ी के पैरों के लिए छिद्र बने हैं। इनके शरीर पर रंग भी लगाया गया था। उस काल के भी लोग मुर्गों को पाला करते थे, क्योंकि एक उदाहरण में पक्षी के मुँह के नीचे तसला सा रक्खा है। हड़प्पा से चीनी मिट्टी तथा मिट्टी में बने कुछ तोते भी मिले हैं। चीनी मिट्टी के एक तोते के पैर तथा निचले पंखों के लिए छिद्र बने हैं। पंखों के स्थान पर कुछ गहरे गड्ढे बना दिये गये हैं और यह अनुमान किया जाता है कि इन स्थलों पर खोंसने की वस्तुएँ जड़ी रही होंगी। तोते का भारतीय इतिहास में विशेष महत्त्व रहा है। प्राचीन काल के आमोद-प्रमोदों में शुक-क्रीड़ा का विशिष्ट स्थान था। इस पक्षी को कामदेव का वाहन माना गया है। शास्त्रों के अनुसार मोर एक शकुनसूचक पक्षी है।

मोर का चित्रण मृत्पात्रों तक ही सीमित नहीं है। मोहें-जो-दड़ो में इस पक्षी के कई खिलौने भी मिले हैं।

यह भी संभव है कि मोर के मांस का प्रयोग उस काल में होता रहा हो। परम्परा है कि एक बार मध्य देश में मोर के मांस को लोग बहुत पसंद करते थे। सम्राट् अशोक के प्रथम

[1] मैके, च० मो०, जि० १, पृ० २२२ [2] वत्स, म० ह०, जि० १, पृ० ३०१

शिला-स्तंभ से ज्ञात होता है कि राज्य पाकशाला के लिए प्रतिदिन दो मोर मारे जाते थे; किंतु स्मृति-साहित्य में इस पक्षी के मारने का निषेध है।

खड़िया पत्थर में निर्मित उल्लू का खिलौना भी हड़प्पा में मिला है। इसके आँख तथा कानों के स्थान पर किसी पदार्थ की जड़ाई होती थी। आजकल इस पशु को अपशकुनी माना जाता है।

हंस का केवल एक ही उदाहरण मोहें-जो-दड़ो में मिला है। इसके ऊपर रंग-बिरंगी चित्रकारी की गई थी। हंस सरस्वती का वाहन और एक पवित्र पक्षी है। चन्हूदड़ो से प्राप्त एक बर्तन पर हंस चित्रित है। यहीं से प्राप्त एक उस्तरे की बेंट का सिरा हंस आकृति का है।[1] हड़प्पा से कौए का भी एक खिलौना मिला है।

ताम्र तथा मिट्टी की पट्टियों पर भी कई प्रकार के पशु-पक्षियों का चित्रण हुआ है। एक मुद्रा में बाईं ओर सिर करके एक गरुड़ उड़ती दशा में दिखलाया गया है। दूसरी ओर साधारण क्रूश का चिन्ह अंकित है। पक्षी की पूँछ तथा पंख खुदी हुई रेखाओं से दिखलाये गये हैं। पंखों के ऊपर सर्प चित्रित हैं। गरुड़ विष्णु भगवान् का वाहन है और संभव है यह पक्षी, प्रागैतिहासिक युग के ऐसे ही किसी देवता से संबंध रखता रहा हो।[2]

इस विशद पशु-चित्रण से ज्ञात होता है कि सिंधु प्रदेश निवासियों का पशु-पक्षी विषयक ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। मुद्राओं पर वही पशु अधिकतर दिखलाए गये हैं, जिनमें असाधारण शक्ति है। पशुओं में सभी धार्मिक महत्त्व के नहीं थे। कुछ पशु तो पूजे, कुछ पवित्र माने जाते और कुछ केवल मनोरंजन के लिए पाले जाते थे। दंती पशुओं के चित्रण का ध्येय संभवतः एक ही पशु में विभिन्न पशुओं की शक्तियों का एकीकरण करने का था। वन की इस अपूर्व दृश्यावली में गाय तथा सिंह का अभाव खटकता है।

बाघ के चित्रों के संबंध में हम अभी लिख चुके हैं। इस पशु के चित्रण में अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि हिंसक होने के कारण लोग इस पशु के निकट नहीं जा सकते थे। इस कारण वे इसका भली-भाँति अध्ययन तथा चित्रण नहीं कर पाये। ऐसा अनुमान है कि सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा के कलाकार अंकन करने से पूर्व वस्तुओं का अध्ययन कर लेते थे। इसी कारण अधिकतर पशुओं में वास्तविकता का पुट आया है।

क्या सिंधु प्रदेश में पशु-बलि की प्रथा भी प्रचलित थी? एक दो उदाहरणों से तो ऐसा अवश्य लगता है। पीतल का बना एक अति सुंदर बकरा है, जो एक पात्र के अंदर रखा था। इसमें बकरे का गला खूँटे से बँधा है।[3] संभव है बलि देते समय इसी प्रकार से पशुओं को बाँधा जाता रहा हो। बकरे को बलि देने की प्रथा आज दिन तक वर्त्तमान है।[4] एक अन्य मुद्रा में किसी वृक्ष की झुकी टहनी के नीचे कोई देवी खड़ी है। उसके सम्मुख हाथ जोड़े एक मनुष्य घुटनों के बल झुका बैठा है। पीछे से एक बड़े आकार का बकरा खड़ा है। यह बकरा या तो बलि या देवी से परिचय करने के लिए प्रस्तुत किया जा रहा था।

हड़प्पा में दयाराम साहनी को कई जाति के पशुओं की हड्डियों का एक ढेर मिला था। इनमें भेड़, बैल, घोड़े आदि पशुओं की हड्डियाँ सम्मिलित थीं। यह संभव है इस स्थल पर सामू-

---

[1] मैके, फ० ए०, जि० १, पृ० ३६२ [2] वत्स, ए० ह०, जि० १, पृ० ३२४ [3] मैके, इं० सि०, पृ० १४२ [4] वत्स, ए० जि० १, ह०, पृ० ११५

ह्रिक रूप से पशु बलि दी गई हो ।[1] हड़प्पा के शवागारों में एक पंजर के बगल में अल्प आयु की भेड़ या बकरी का पंजर भी पड़ा मिलाथा । पशु के शरीर को कई भागों में काटा गया था । उसकी कुछ पसलियाँ तो मृतक की हथेली पर रक्खी थीं । जान पड़ता है कि मृतक के संस्कार के अवसर पर इस पशु का बलिदान किया गया था ।[2] प्राचीन काल के लोगों का विश्वास था कि जंगल या पहाड़ पर विचरण करनेवाली बकरी लोगों का दूसरे संसार में मार्ग प्रदर्शन करती है ।

सिंधु-सभ्यता के अंतर्गत नरबलि की प्रथा थी या नहीं, यह प्रश्न भी विवादग्रस्त है । एक मुद्रा, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, से तो ज्ञात होता है कि एक स्त्री किसी देवी को बलि दी जा रही है । किंतु यह केवल अनुमान मात्र ही है । निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि सिंधु-सभ्यता की धार्मिक प्रणालियों में नरबलि का क्या स्थान था । हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो में कई ऐसे अस्थिपंजर मिले हैं जिनके अंग-प्रत्यंग कटे हुए हैं । इनको जान-बूझकर एक स्थान पर गाड़ दिया गया था । संभव है क्रूर तथा बर्बर जातियों ने इन नगरों पर कभी धावा कर लोगों को हत किया होगा ।

वेदों में राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध नामक चार यज्ञों का वर्णन है । इनमें पुरुषमेध यज्ञ कभी संपन्न हुआ था या नहीं, यह ज्ञात नहीं है । केवल एक मंत्र से नरबलि पर कुछ प्रकाश पड़ता है (ऋ० १, २ ४, १) । कहा जाता है कि एक बार राजा हरिश्चंद्र किसी रोग से पीड़ित हुए । जब रोग से मुक्ति प्राप्त न हो सकी तो प्रधान आचार्य ने उन्हें सुझाव दिया कि वरुण को अपने पुत्र की बलि देकर वे रोग से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । यह समाचार सुनकर राजा का पुत्र, रोहित वन में चला गया और शुनःशेफ को लाकर बलि के लिए प्रस्तुत किया । यज्ञ मण्डप में जब अजीतगर्त स्वयं शुनःशेफ को मारने के लिए उठा, तो अपना अंतिम समय देखकर शुनःशेफ ने बड़ी आर्तवाणी मे भगवान् से प्राण-रक्षा की याचना की—

> कस्य नून कतमस्या मृतानां मनामेह चारुदेवस्य नाम ।
> को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेय मातारं च ॥

भगवान् के सच्चे भक्त कभी ऐसी आर्तवाणी अपने मुँह से नहीं निकालते । इसलिए वेद के इस मंत्र की यथार्थता पर भी संदेह होता है । ईगोलिंग का कहना उचित ही है कि पुरुषमेध केवल एक संस्कार विधि को पूर्ण करने के हेतु रक्खा गया था । कार्य रूप में वह कभी भी परिणित नहीं हो पाया ।[3] नरबलि का एक अन्य उल्लेख ऐतिहासिक युग की एक पुस्तक 'गौड़वहो' में भी हुआ है । लेखक के अनुसार यशोवर्म्मन जब दक्षिण-पूर्वी भागों में विजय हेतु जाने के पूर्व विंध्याचल में स्थित विंध्यवासिनी देवी के मन्दिर में पूजा करने गये तो इस मंदिर में उन्होंने नर-बलि यज्ञ संपन्न होते देखा था ।[4]

अनेक मुद्राओं तथा मिट्टी के बर्तनों की बाहरी सतह पर वृक्ष या पंक्तियों का चित्रण है । इसमें संदेह नहीं कि सिंधु-सभ्यता का अनुसरण करनेवाले लोगों का, वृक्ष पूजा में प्रगाढ़ विश्वास था । एक मुद्रा में भूमि से उत्पन्न एक वृक्ष से दो टहनियाँ निकल रही हैं । इन टहनियों के मध्य में त्रिशूल-सदृश शिरोभूषा तथा बाजूबंद पहिने एक नग्न आकृति खड़ी है । इसके सम्मुख फिर सींगों को पहिने दूसरी आकृति झुकती दीख पड़ती है । इसके बाल लम्बे हैं और सिर पर सींगों के बीच पत्तों का बना कोई मुकुट सा जड़ा है । सबसे नीचे, ऊँची चोटी, जो सिर पर कुछ मुड़ी है, लिए

---

[1] आ० स० रि०, १९२२-६, पृ० ७६ [2] वत्स, ख० ह०, जि० १, पृ० २२१ [3] सेक्रेड बुक्स आव् दि ईस्ट, जि० ४४, भूमिका, ४१ [4] त्रिपाठी, हिस्ट्री आव् कन्नौज, पृ० १६७

सात छोटी आकृतियाँ खड़ी हैं। मार्शल के मतानुसार इस मुद्रा में पीपल के वृक्ष की आत्मा अंकित है। निम्नभाग की सात आकृतियाँ संभवतः देवी के दूत हैं।[1] हड़प्पा से प्राप्त मिट्टी की मुद्रा पर एक आकृति, जिसके हाथ बाजूबंदों से भरे हैं, पीपल की टहनी से बने मेहराब के नीचे खड़ी है।[2] मोहें-जो-दड़ो में एक विचित्र दृश्य की मुद्रा मिली है। इसमें दो जुड़वाँ एक-शृंगी पशु के सिरों से नौ पीपल की पत्तियाँ निकलती दीख पड़ती हैं।

मिट्टी के एक ताबीज़ पर दोनों ओर एक एक व्यक्ति वृक्षों को पकड़े हैं। उनमें बीच में हाथ फैलाए आकृति खड़ी है। संभव है ये वृक्ष इस आकृति के सम्मान में गाड़े जा रहे हों। कुछ उदाहरणों में वृक्षों का तना पीठिका पर स्थित है।

हड़प्पा की कई मुद्राओं पर विचित्र जाति के वृक्षों का भी अंकन है। ये वृक्ष साधारण रूपों में चित्रित हैं और इनके वास्तविक रूप पहिचानने में कभी-कभी कठिनाई भी पड़ती है। वेष्ठनी के अंदर स्थित ऐकेशिया वृक्ष का चित्रण कई चीनी मिट्टी तथा साधारण मिट्टी की पट्टियों पर हुआ है। एक मुद्रा पर केवल छः पीपल की पत्तियाँ दिखलाई देती हैं। खजूर के पेड़ से भी हड़प्पा निवासी विज्ञ थे। यह वृक्ष कई मृत्पात्रों में दीख पड़ता है। चन्हूदड़ो से प्राप्त मृत्पात्रों पर भी वृक्ष आदि चित्रित हैं। इनमें नीम तथा पीपल की पत्तियाँ पहिचानी जा सकती हैं।

भारत में चिरकाल से वृक्षों में देवी-देवताओं के निवास की कल्पना की गई है। आज दिन भी भारत में अनेक ऐसे वृक्ष हैं जिनकी पूजा स्वतंत्र रूप से की जाती है। भारत की प्राचीनतम तक्षण कला में यक्षिणियाँ प्रायः पेड़ों के साथ लिपटी दिखाई गई हैं। यक्षों की नाभि से लताएँ भी निकलती दीख पड़ती हैं। भरहुत, साँची तथा अमरावती की वेष्ठनियों में स्त्री तथा वृक्ष का मनोहर चित्रण हुआ है। यह हो सकता है कि यक्षिणियों का तत्कालीन समाज में कोई श्रेष्ठ महत्त्व नहीं था। किंतु इसमें संदेह नहीं की ग्रामीण लोग यक्ष-यक्षिणियों की किसी न किसी रूप में पूजा अवश्य करते थे। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि भारत के प्राचीनतम कार्षापण सिक्कों में वेष्ठनी के अंदर प्रायः वृक्ष दीख पड़ते हैं।[3] यह वृक्षों की परंपरा भारतीय सिक्कों में ई० पू० २०० तक चलती रही। हम अभी देख ही चुके हैं कि पीपल के वृक्ष का चित्रण सिंधु-सभ्यता के सभी प्रमुख केंद्रों में हुआ है। पीपल का आज दिन भी भारत में बड़ा महत्त्व है। इसकी पत्तियाँ तथा लकड़ी हवन तथा आहुति में काम आती हैं किंतु पत्तों को तोड़ने का कभी-कभी निषेध होता है। जब तोड़ने की नितांत आवश्यकता होती है तो उस समय क्षमासूचक कुछ मंत्र उच्चारित कर दिए जाते हैं। तुलसी तथा बेल के पत्तों को तोड़ते समय मंत्र पढ़ कर सिर नवाया जाता है। पीपल के अतिरिक्त नीम का चित्रण भी मृत्पात्रों पर दीख पड़ता है। वैसे नीम एक कीटाणुनाशक वस्तु है। लोगों की यह भी धारणा है कि इस वृक्ष पर शीतला देवी का निवास है। चैत्र कृष्ण अष्टमी को नीम की पत्तियाँ शीतला देवी को चढ़ाई जाती हैं। संभवतः ऐसा ही कोई धार्मिक विश्वास सिंधु प्रदेश में भी रहा हो। कुछ मुद्राओं में जो चौड़ी तथा खुली पत्तियाँ चित्रित हैं वे शायद केले के वृक्ष की हैं। केले का वृक्ष भी पवित्र माना जाता है। मोहें-जो-दड़ो की कुछ मुद्राओं पर बबूल का भी चित्रण है।[4] शीशम तथा शिरीष के पत्तों का भी यत्र-तत्र अंकन हुआ है।

हिंदू धर्म तथा साहित्यिक परंपराओं में वृक्ष की पत्तियाँ सदैव पूजा की वस्तु रही हैं। लोगों

[1] मार्शल, मो० इं० सि०, जिल्द १, पृ० ६३-४ [2] वत्स, ए० ह०, जि० १ पृ० ३३१
[3] ऐलन, कैटलाग, कवायंस इन ऐंशंट इंडिया, पृ० ३१ [4] मार्शल, मो० इं० सि०, जि० पृ० ३३०

का एक विश्वास यह भी था कि वृक्षों पर देव, यक्ष, नाग, भूत-प्रेत तथा अप्सराओं का निवास है।[1]

एक मुद्रा जिसमें कि दो आदमी वृक्षों को हाथ में लिए हुए हैं और जिसका उल्लेख पहिले हो चुका है संभवतः वृक्ष-पाणिग्रहण की ओर संकेत करता है। अब भी तुलसी के वृक्ष का विवाह बड़ी धूमधाम से भारत के कई भागों में किया जाता है। पाटलिपुत्र के स्थापन की कथा में भी पातालि वृक्ष-पाणिग्रहण की परंपरा है। हिंदुओं की दृष्टि में अनेक वृक्ष अमर हैं। प्रयाग, जगन्नाथ पुरी तथा जयपुर में कुछ ऐसे वृक्ष हैं, जो युग युगों के इतिहास के साथ चले आ रहे हैं।

मुद्राओं तथा ताम्र पट्टियों में अनेक ऐसे विषय अंकित हैं, जिनके ध्येय का कुछ पता नहीं चलता। अनुमान है कि ये दृश्य किसी शक्ति या देव पुरुषों के जीवन से संबंध रखते हैं। आज-कल की तरह उस समाज में भी देव या दंत-गाथाओं का प्राधान्य रहा होगा। एक समचतुरस्र ताम्र पट्टी पर बेबीलोन की गाथाओं में वर्णित देव पुरुष (गिलगामेश) का चित्रण है। उसके सिर पर दो सींग तथा पीठ पर पूँछ है। दाएँ हाथ में वह एक धनुष को पकड़े है। ऐसा लगता है कि आकृति का सम्पूर्ण शरीर पत्तों से ढका है। ऐसी भूषा तो शिकारियों के बीच संभव हो सकती है। क्या इस मुद्रा की आकृति भी वैसी ही कल्पित थी जैसी कि शिवजी की किरात रूप में? दूसरी मुद्रा में एक मनुष्य बर्छी द्वारा भैंसे पर धावा करता दीख पड़ता है। इस बर्छी की बनावट भी विचित्र है। संभव है कि प्राचीन काल में भैंस किसी विशेष संप्रदाय की पूजक वस्तु थी और प्रस्तुत दृश्य में अंकित पशु पर धावा करनेवाला एक ऐसा व्यक्ति है, जो भैंस पूजा के संप्रदाय का विरोधी था।[2]

ऐसा ही विचित्र दृश्य हड़प्पा से प्राप्त मिट्टी की एक मुद्रा पर भी है। इसमें मचान के ऊपर बैठ कर, एक मनुष्य बाघ के सदृश किसी पशु पर धावा कर रहा है। नीचे पैर के तलुओं को मिलाकर योगासन में एक आकृति बैठी है। दृश्य में कई और पशु भी हैं। मुद्रा की दूसरी ओर एक त्रिशूल सदृश स्तंभ के पास वृषभ खड़ा है। इसके निकट ही एक देव तथा दुमंज़िला मन्दिर है।[3] यह मन्दिर लकड़ी का बना जैसा लगता है। सिंधु-सभ्यता की वस्तुओं में केवल यही एक ऐसा अलौकिक उदाहरण प्राप्त हुआ है।

एक दूसरी मुद्रा में एक बलिष्ठ शरीर का देव या वीर पुरुष दो व्याघ्रों के साथ द्वंद्व कर रहा है। यह आकृति नग्न लगती है। केवल कमर के भाग में छोटा-सा पटका पड़ा है। व्याघ्रों के मुँह क्रोध की मुद्रा में हैं। आकृति के सिर पर विचित्र शिरोभूषा है। इसको या तो शिरस्त्राण माना जा सकता है, या बाल ही ऐसे अलौकिक ढंग से काढ़े गये हैं जिससे कि वे गुच्छे के रूप में लगते हैं। इस दृश्य को ठीक-ठीक नहीं पहिचाना जा सका है।

मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो के कुओं तथा स्नानागारों को देखकर ज्ञात होता है कि सिंधु-सभ्यता के लोग जल पूजा में भी विश्वास रखते थे। तुलनात्मक निरीक्षण करने से पता चला है कि हड़प्पा में मोहें-जो-दड़ो की अपेक्षा कम कुएँ थे। कुएँ का जल, पीने तथा स्नान दोनों कार्यों के लिए व्यवहृत होता रहा होगा। आजकल ही की भाँति उस काल में संध्या, पाठ तथा पूजा प्रारंभ करने से पहले स्नान कर लिया जाता होगा। जल पूजा की भारत में विशेष महत्ता है। गंगा, यमुना, भागीरथी, मन्दाकिनी, नर्मदा, सरयू आदि आदि नदियों के जल में स्नान

---

[1] कुमार स्वामी, हि० इं० इं० आ०, पृ० ५१, ३७ [2] आ० स० रि०, १९२०-४, पृ० १३१. [3] वत्स, ह० इ०, जि० १, पृ० १२९-३०.

करने से विचित्र धार्मिक ध्येयों की पूर्त्ति होती है। प्रयाग के संगम (त्रिवेणी) में स्नान करने से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है। सिंधु तथा रावी का भी प्रागैतिहासिक युग में कुछ न कुछ धार्मिक महत्त्व अवश्य रहा होगा।

मोहें-जो-दड़ो में कुषाण-कालीन स्तूप के नीचे संभवतः एक मन्दिर दबा पड़ा है। इसके सन्निकट एक बहुत अच्छा स्नानागार भी मिला है जिसका उल्लेख अगले अध्याय में किया जा रहा है। नगर के इस भाग में कई अनूठे भवनों के अवशेष निकले हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्नानागार में स्नान, हाथ या मुँह धोकर लोग प्रायः निकटवर्ती मन्दिर में दर्शन के लिए जाते थे। स्नानागार की खुदाई करते समय वहाँ पर दो छोटे-छोटे लिंग भी प्राप्त हुए हैं। सिंधु प्रदेश में आज दिन भी जल-पूजा की कुछ परंपराएँ हैं। यहाँ दरिया-पंथी नाम का एक संप्रदाय वर्त्तमान है। ये लोग जल-पूजा के अनुयायी हैं।[1] नाग-पूजा में भी जल का विशेष महत्त्व है। हम पहले देख ही चुके हैं कि सिंधु प्रदेश में नाग-पूजा भी होती थी।

मोहें-जो-दड़ो की दो मुद्राओं पर यूनानी क्रूश का भी अंकन है। क्रूश का यह प्रतीक इलम तथा सुमेर में विशेष रूप से प्रचलित था। किंतु मिश्र देश में इसका अभाव दीख पड़ता है। यह प्रतीक यूनान की कुछ प्राचीन वस्तुओं में भी दीख पड़ता है। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त मुद्रा का एक क्रूश जो दुहरी रेखाओं से बना है और जिसके मध्य में एक दूसरे को काटते हुए वृत्त बने हैं, की ठीक एक प्रतिलिपि उत्तरी यूनान के टसानी मघुला नामक स्थान में भी मिली है। मैके का कथन है कि क्रूश की परंपरा यूनान में इलम से पहुँची थी।[2] आर्थर इवेन्स के अनुसार क्रूश का ध्येय तारे का चित्रण करना था। स्वस्तिका तथा चक्र-प्रतीक भी कई वस्तुओं पर दीख पड़ता है। ये सूर्य भगवान् के प्रतीक माने जाते हैं। आपटे के अनुसार स्वस्तिक शुभ चिन्ह है।[3] यह संभव है कि सिंधु-प्रदेश तथा पंजाब के प्रागैतिहासिक स्थानों में किसी प्रकार की सूर्य-पूजा होती रही हो। एक समय स्वस्तिका प्रतीक संसार के कई देशों में व्याप्त था।[4]

मोहें-जो-दड़ो में पीतल में ढली नर्त्तकियों की मूर्त्तियाँ भी मिली हैं। इनमें एक नर्त्तकी के हाथ, हाव-भाव व्यक्त करने की मुद्रा में हैं। पैरों से मालूम होता है कि नर्त्तकी ताल के आधार पर नृत्य कर रही है। उसके हाथ कड़ों से भरे हैं और वह गले में एक हँसली पहने है। चेहरे से कुछ घृणा का भाव सा टपकता है। यह नग्न रूप में है और इसे कुछ विद्वानों ने देव-दासी माना है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में देवदासियाँ नहीं थीं। इनका उल्लेख न तो जातकों में ही मिलता है और न अर्थशास्त्र में। देवदासियों का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख कालिदास के ग्रंथों में आया है। कल्हण ने भी देवदासी का वर्णन किया है।[5] जोगीमार गुफालेख में भी एक देवदासी का उल्लेख है इनसे ज्ञात होता है देवदासियाँ ईसा के बाद की शताब्दियों में मन्दिरों में वर्तमान थीं। दीक्षित के मतानुसार यह स्त्री निग्रो जाति की है। उनके अनुसार

---

[1] श० आ० सिं०, पृ० १६६ [2] मैके, फ० य० मो०, जि० १, पृ० ६२६ [3] आप्टे, सं० डि०, पृ० ११६१ [4] देखिए, विल्सन का लेख बोर्ड आव् रीजेंट्स आव् दि स्मिथसोनियन इंस्टीट्यूट, जून ३०, १८९४ [5] देखिए मेघदूत १, ३९, राजतरंगिणी, अ० ४, पृ० ४१९-२४

इस जाति की स्त्रियाँ प्रायः नग्न ही रहा करती थीं। यह जाति सिंधु प्रदेश के निवासियों से कुछ भिन्न थी।[१]

दूसरी मूर्त्ति मैके को सन् १९३० ई० में प्राप्त हुई थी। यह पहली मूर्त्ति से कई दिशाओं में भिन्न है। इन दोनों मूर्त्तियों में प्रत्येक का हाथ एक-एक कड़े से लदा है। दोनों पैर आवश्यकता से अधिक लम्बे बना दिये गये हैं। यह आकृति किसी आधार पर टिकाई गई थी। इसकी रूप-रेखा पहली मूर्त्ति से निम्न है।[२]

मिट्टी में बनी दो आकृतियों को भी नर्तकों की मूर्तियाँ माना गया है। इनके पैरों के घुमाव से ज्ञात होता है कि वे नृत्य कर रहे हैं। ऐसा नृत्य संभवतः किसी विशेष संप्रदाय के लोगों के बीच प्रचलित रहा होगा। यह भी संभव है कि किसी विशेष संस्कार या कर्मकांड के अवसर पर नृत्यों का विशेष आयोजन किया जाता था।[३]

नृत्य के कुछ संकेत ताबीज़ों पर भी मिलते हैं। चीनी मिट्टी की एक ताबीज़ पर एक मनुष्य ढोल बजा रहा है। सामने कुछ मनुष्य नृत्य करते हुए दीख पड़ते हैं। इस नृत्य का ध्येय संभवतः देवी को प्रसन्न करने का था। यह भी हो सकता है कि इसका संबंध किसी विशिष्ठ संस्कार, कर्म या धार्मिक पद्धति से था।[४] यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि पीतल में अंकित नर्तकियाँ शायद अथर्वेद में वर्णित 'दासी' या संहिताओं में वर्णित 'शूद्रा' की तरह कोई दास-पुत्रियाँ हों।[५]

क्या सिंधु-प्रदेश में भी गायन-वादन का प्रचार था? ऐसी उच्च सभ्यता के समाज के बीच संगीत का न होना असंभव सा लगता है। खेद है कि प्राचीन उर की खुदाइयों की तरह सिंधु-प्रदेश तथा अन्य प्रागैतिहासिक स्थानों से कोई वाद्य यंत्र प्राप्त नहीं हुआ है। चीनी मिट्टी की एक मुद्रा पर ढोल सदृश्य कोई वस्तु दीख पड़ती है। इसको एक मनुष्य, जिसके चारों ओर लोग खड़े हैं बजा रहा है। हड़प्पा से प्राप्त एक दूसरे ताबीज़ में वाद्य के सम्मुख ढोल बजाये जाने का दृश्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंधु-प्रदेश में ढोल के साथ-साथ तार के वाद्य भी प्रचलित थे। दो मुद्राओं पर तो मृदङ्ग जैसी वस्तु अंकित है। ढोल का चित्रण भी एक दूसरी मुद्रा पर है। इसमें एक स्त्री ढोल को बग़ल में दबाये हुए है। मुद्राओं तथा ताबीज़ों के दृश्यों में अनेक ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें वीणा का कोई रूप माना जा सकता है। स्मरण रहे कि सुमेर के लोग इस तंत्र से भली भाँति परिचित थे। सिंधु प्रदेश के लोगों को शायद कांसताल भी ज्ञात था।[६]

प्राचीन भारत में संगीत को बहुत उच्च स्थान मिला है। वेदों के मंत्र संगीतमय हैं। परम्परा है कि कैलाशपति भगवान शंकर ने संगीत को सुचारु रूप में संसार के सम्मुख रक्खा और नारद ने उसे प्रसारित किया। ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए संगीत एक अद्वितीय साधन है। संसार की कई जातियों ने इसे आत्मोन्नति तथा आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपनाया है। इसलिए संगीत का प्रधानतया धर्म से ही संबंध पाया जाता है।

यजुर्वेद संहिता तथा ब्राह्मण युग में स्त्रियाँ संगीत का विशेष अध्ययन करती थीं। उनकी परम इच्छा रहती थी कि उन्हें संगीत से प्रेम रखनेवाले, जीवनसंगी प्राप्त हों। उस समय

---

[१] दीक्षित, प्री० सि० इं० वे०, पृ० २६ [२] आ० स० रि०, १९३१-२, पृ० ६० [३] मैके, फ० य० मो०, जि० १, पृ० २६६ [४] मैके, इं० सि०, पृ० ९३ [५] अथ, ५, २२, ६, तै० सं०, ७, ४, १९, ३ [६] दीक्षित, प्री० सि० इं० वे०, पृ० ३०

राजा लोग तक संगीत में विशेषज्ञता प्राप्त कर लेते थे। मत्स्य पुराण से ज्ञात होता है कि वृष्णि-वंशज राजा तैत्तिरी ने अपनी पुत्री को संगीत तथा नृत्य की दीक्षा दी थी।[1]

इस बिखरी सामग्री से हम सिंधु-सभ्यता के लोगों के धार्मिक विचारों या मतों के विषय में थोड़ा बहुत जानकारी प्राप्त कर सके हैं। इन लोगों का ताबीज़ तथा जादू टोने पर भी विश्वास था। मुद्राओं पर संभवतः प्राक्कालीन देवी-देवताओं के जीवन-संबंधी विभिन्न घटनाएँ चित्रित हैं। यहाँ के लोगों का जल, वृक्ष, मातृ-देवी, शिव, नाग तथा शक्ति की उपासना में विश्वास था। योग की परिपाटियों से भी वे विज्ञ थे। सिंधु प्रदेश के नगरों में कई बाहर की जातियाँ भी रहती रही होंगी। यह संभव है कि कभी-कभी सामूहिक पूजा की योजना भी की जाती रही हो।

आधुनिक हिंदू धर्म की प्रणालियां तथा विचारधारा के साथ सिंधु-सभ्यता के धार्मिक तत्त्वों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि प्रागैतहासिक युग का यह धर्म मूल से हिंदू तत्त्वों का ही बना था।

१ तै० सं०, ६, १, ६५; म० पु० ४४,६२

सातवाँ अध्याय

कला तथा कौशल

मनुष्य के जीवन में कला एक अत्यावश्यक वस्तु है। भरण-पोषण मात्र से ही केवल उसके व्यक्तित्व की वृद्धि नहीं होती। उसे मानसिक तथा बौद्धिक भोजन की भी आवश्यकता होती है। सभ्यता के सभी युगों में विभिन्न प्रकारों से कला का जीवन से घनिष्ट संबंध रहा है। भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है :—

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छ विषाण हीनः।

अर्थात् संगीत, साहित्य तथा कला रहित मनुष्य बिना पूँछ के पशु के समान है।

हम देख चुके हैं कि सिंधु-सभ्यता चरम अभ्युदय को पहुँच चुकी थी। उस काल के लोगों की प्रवृत्ति कुछ क्षेत्रों में अर्थ प्रधान रही होगी, किंतु दैनिक जीवन में व्यवहृत वस्तुओं में उन्हें अपने कला एवं सौंदर्य प्रेम को दिखलाने का अवसर प्राप्त था। इन्हीं के आधार पर हमें सिंधु-सभ्यता के लोगों के कला-प्रेम को आँकना है। इस अध्ययन के लिए हमारे पास मृण्मूर्त्तियाँ, पत्थर की मूर्त्तियाँ, तावीज़ें, मिट्टी के बरतन तथा मनके सामग्री के रूप में हैं।

मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो में सैकड़ों मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। प्रयोग की दृष्टि से इनको तीन वर्गों में रखा जा सकता है :—

(१) बच्चों के खिलौने।

(२) मंदिरों और देवताओं को भेंट की जानेवाली या पूजा की मूर्तियाँ।

(३) खिलौने या मूर्तियाँ जो समाधि या शवों के साथ रक्खी जाती थीं।

इन खिलौनों तथा मृण्मूर्तियों की शैली अति साधारण है। यह बतलाना कठिन है कि इनको व्यापारिक दृष्टिकोण से कारीगर बनाते थे या नहीं। कुछ तो शैली में निम्न है और अनुमानतः इनको कुम्हारों के बच्चों ने बनाया होगा। कला के दृष्टिकोण से सिंधु-सभ्यता के खिलौनों का यह महत्त्व है, कि उनसे प्रारंभ हुई परम्परा ने आगे चलकर कला की वस्तुओं में उत्कृष्ट स्थान प्राप्त किया। मौर्य्य काल से लेकर मध्यकाल तक भारत के विभिन्न प्रदेशों में मृण्मूर्तियाँ बनती रहीं। काल की गति के अनुसार उनकी शैली में प्रौढ़ता भी आती गई। बाद के कुछ उदाहरणों को देखकर तो चकित हो जाना पड़ता है।

मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो के विभिन्न स्तरों से प्राप्त मृण्मूर्तियों में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य दीख पड़ता है। इनके लिए वही मिट्टी प्रायः प्रयुक्त होती थी, जिसको कि बर्तनों के लिए व्यवहार में लाया गया है और मैके का अनुमान ठीक ही है कि मूर्त्तिकारों तथा कुम्हारों को मिट्टी किसी स्थान-विशेष से प्राप्त होती थी। उस काल में सांचों का प्रयोग नहीं होता था। सभी मृण्मूर्त्तियाँ हाथ से बनाई गई हैं। भट्ठे में तपाकर इनका रंग हल्का या गहरा लाल हो जाया करता था, किंतु कभी-कभी इनके ऊपर लाल रंग की पालिश भी कर दी जाती थी। लाल के अतिरिक्त और रंगों का भी अलंकरण इन मृण्मूर्त्तियों पर होता था। कुछ उदाहरणों में बाल, आभूषण, आँख तथा मुँह अलग रंगों की रेखाओं से दिखलाए गए थे। चन्हूदड़ो से प्राप्त कुछ पशुओं के शरीर पर भी रंगीन रेखाओं का अपूर्व अलंकरण है।

सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा में स्त्रियों की कई मृण्मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनको कई शैलियों में बनाया गया है। अधिकतर आकृतियों में सिर के ऊपर गँडासे की तरह कोई वस्तु पड़ी रहती है। आँख तथा स्तन मिट्टी के गोल टुकड़ों तथा आभूषण और मेखला अलग से चिपका कर दिखलाई गई हैं। नाक तो प्रायः गालों को पिचका कर उभाड़ दी जाती थी। एक दो उदाहरणों में नथुने भी दीख पड़ते हैं। कमर के ऊपर एक छोटा पटका पड़ा रहता है। अधिकतर उदाहरणों में हाथ टूट गए हैं। पैर सीधे डंडों की तरह हैं। उनमें ऊँगलियाँ आदि दिखलाने का कोई यत्न नहीं किया गया है। कुछ में तो स्त्रियों के पेट फूले से लगते हैं। शिरोभूषा में भी विविधता है। कुछ उदाहरणों में पगड़ी सिर पर बँधी है। शिरोभूषा के दोनों ओर प्याले जैसी वस्तुएँ भी हैं। इन प्यालों के भीतरी भाग में काले रंग के कुछ चिह्न हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि इनके अंदर धूप-बत्ती रक्खी जाती थी। इस प्रकार की शिरोभूषा किसी कपड़े या धातु के नारे से बाँधी जाती थी।

चन्हूदड़ो में भी स्त्रियों की अनेक आकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें अधिकतर पगड़ी पहिने हैं। इनके गले में एक कंठहार रहता है। आँखें गोल पट्टियों द्वारा जिनके मध्य में फिर छिद्र हैं प्रदर्शित की गई हैं। पेट फूले हुए हैं। किसी भी उदाहरण में पैर दिखलाने का प्रयत्न नहीं किया गया है।[1] इस शैली की मृण्मूर्तियाँ आरियल स्टाईन को बलूचिस्तान में भी मिली थीं।[2] बिना पैरों की मृण्मूर्त्तियाँ, इलम तथा यूनान के कुछ प्राचीन स्थानों से भी मिली हैं।

इन मृण्मूर्तियों का क्या महत्त्व था यह बतलाना कठिन है। इनकी विविध शिरोभूषा तथा अंग-प्रत्यंगों को देखकर तो यही लगता है कि इनका संबंध मातृदेवी के संप्रदाय से था। हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि प्राचीन काल में मातृदेवी की पूजा का प्रचलन मध्य-पूर्वी देशों में पूर्ण रूप से व्याप्त था।

पुरुष आकृतियों के केवल थोड़े से ही उदाहरण मिले हैं। ये प्रायः नग्न हैं। सिर भी नग्न ही रहता है। कहीं-कहीं बालों को थामने के लिए एक नारे का प्रयोग अवश्य किया गया है। चन्हूदड़ो तथा मोहें-जो-दड़ो की पुरुष आकृतियों के गले में एक तागा-सा भी दीख पड़ता है। संभव है जनेऊ की ही तरह इस तागे का कोई धार्मिक महत्त्व रहा हो। आज दिन भी लोग ऐसे ही तागों में तावीज़ आदि पहिना करते हैं।

कुछ मृण्मूर्तियाँ संतति प्राप्ति के लिए मंदिरों में भी भेंट की जाती रही होंगी। इसमें उन आकृतियों को सम्मिलित किया जा सकता है जो कि बच्चों को गोद में लिए या स्तन पान कराती दीख पड़ती हैं। फूले हुए पेटोंवाली स्त्रियाँ संभवतः गर्भवती हैं। छोटे स्तनोंवाली मृण्मूर्तियों से ज्ञात होता है कि वे कुँवारी या अल्प आयु की स्त्रियों की थीं।

सिंधु-सभ्यता के किसी भी नगर में मूर्तियों को बनाने के ढाँचे नहीं मिले हैं। कुछ बनाये चेहरे खुदाइयों में प्राप्त हुए हैं और इनको ढाँचों से निकाला गया था।

पशु-पक्षियों के अनेक खिलौने सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा में प्राप्त हुए हैं। ये चिकनी मिट्टी, सिलखड़ी, पत्थर तथा मिट्टी के ही अधिकतर बने हैं। पत्थर तथा ताँबे के उदाहरणों का अभाव है। उस युग में पत्थर की सिंधु प्रदेश में कमी थी। ताँबे को काटना कठिन होता है, इसलिए इन माध्यमों की ओर कलाकार प्रायः उदासीन ही रहे।

मिट्टी के बने पशु अधिकतर उदाहरणों में कम पकाये गए हैं। इनके ऊपर भी एक हल्की

[1]मैके, च० उ०, जि० २, चित्र० १०४. [2]आ० स० मे०, नं० ४३, पृ० १२१, १६२.

लाल पालिश लगाई गई थी। इसके अतिरिक्त हल्के पीले रंग से भी कुछ खिलौने रँगाए गए थे। यह भी कहा जा सकता है कि पशुओं की सजावट में नाना प्रकार के रंग प्रयोग में आते थे। कुछ उदाहरणों में तो अलंकरण बिल्कुल स्पष्ट है। सबसे अधिक प्रचलित खिलौने बैलों के थे। इसमें छोटे सींगवाले, बिना कूबड़ तथा कूबड़दार दोनों जाति के पशु सम्मिलित थे। मोहें-जो-दड़ो में जो बैल के खिलौने सबसे नीचे के स्तरों में मिले हैं उनमें दोनों पैर साथ ही जुड़े थे। किंतु ऊपर की सतह के उदाहरणों में वे अलग-अलग दीख पड़ते हैं। कुछ बैल के खिलौनों के बाल तथा अंग-प्रत्यंग चाकू से ठीक किए गए हैं। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त ठप्पे से निकाला हुआ बैल का एक खोखला खिलौना है। इसके गले में माला पड़ी है। चन्हूदड़ो की खुदाइयों में भी अनेक बैल के खिलौने मिले हैं। यहाँ से प्राप्त एक बैल के सींग के सिरे पर छिद्र बना है। इसमें मुँदरी जैसी कोई वस्तु पहिनाई जाती रही होगी। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त बैलों के कुछ उदाहरणों में गले के नीचे भी एक छिद्र बना है। संभव है इस पर कोई पूजा संबंधी आधार टिकाया जाता रहा हो। मिट्टी के अतिरिक्त पत्थर, पीतल तथा ताँबा आदि धातुओं के भी बैलों के खिलौने बनाये जाते थे। चीनी मिट्टी के उदाहरणों की ऊपरी सतह पर लगी पालिश मिट गई है। यह भी संभव है कि कुछ उदाहरणों पर पालिश कभी नहीं लगाई गई थी। पत्थर का केवल एक ही बैल का खिलौना मिला है। इसके कान और सींग अलग से किसी अन्य पदार्थ के बने थे। धातु के थोड़े ही पशु ढाले गए थे। इनमें वास्तविकता का दिग्दर्शन होता है। मोहें-जो-दड़ो में ताँबे का एक बैल मिला है। इसका सिर नीचे झुका है। पशु का एक सींग तथा कान किसी कपड़े से बँधा सा लगता है। एक बैल पीठिका पर भी स्थित था।[1] कुछ बैलों के सिर शंख के भी बने थे। हड़प्पा से प्राप्त शंख में बने एक बैल के गले में माला पड़ी है। सींगों को अलग से जोड़ने के लिए भी इसमें छिद्र बने हैं।[2] बंदर, भैंस, कबूतर, हंस आदि-आदि पशु पक्षियों के खिलौनों के बनाने में भी कलाकारों ने बड़ी समझ तथा सूझ से काम लिया था। एक खिलौने में बंदर बच्चे को गोद में चिपकाकर लिए हुए है। जिन उदाहरणों में बंदर हाथों को घुटनों पर रखे हैं वे भी बड़े कौतूहलप्रद हैं। छोटे-छोटे खिलौने हाथ से बनाए जाते थे। इसके बाद उन्हें औज़ारों से ठीक कर अंत में ऊपर से चमकीली पालिश की जाती थी। हाथी के खिलौनों का सर्वत्र अभाव दीख पड़ता है। चन्हूदड़ो से भाग्यवशात् एक दर्शनीय हाथी का खिलौना मिला है।[3] इसकी पीठ के अलंकरण से ज्ञात होता है कि वह किसी विशेष अवसर के लिए सजाया जाता था। हड़प्पा से शूकरों के जो खिलौने मिले हैं उन पर प्रायः हरा रंग लगा है। शूकर आज एक अपवित्र पशु माना जाता है और इसके बाल रंग में काले होते हैं। फिर किस ध्येय से इसमें बालों के लिए हरे रंग का प्रयोग हुआ है यह बतलाना कठिन है। चिकनी मिट्टी की गिलहरियाँ भी दर्शनीय हैं। ये पूँछ ऊपर किये प्रायः पिछले पैरों पर बैठी खड़ी हैं। इसके पैरों के बीच में कोई खाद्य वस्तु भी दीख पड़ती है, जिसको कि हाथ से चुनकर गिलहरी खाता दीख पड़ती है। चिकनी मिट्टी का साँप का भी एक सिर मिला है। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में चिकनी मिट्टी के बहुत से मेंढ़े भी मिले हैं। ये हड्डी, घोंघे तथा चीनी मिट्टी की भी हैं। एक उल्लेखनीय बात यह है कि मोहें-जो-दड़ो में जितने भी मेंढ़े मिले हैं किसी के भी गले पर छिद्र नहीं हैं। किंतु हड़प्पा के सभी उदाहरणों में पशु के गले पर छिद्र हैं।[4] ऐसा

---

[1] मार्शल, मो० द० इं० सि०, जि० २, पृ० ५०६ [2] वत्स, ए० ह०, जि० १, पृ० ३०७
[3] मैके, च० उ०, जि० १, पृ० १५९ [4] वत्स, ए० ह०, जि० १, पृ० ३००

प्रतीत होता है कि कुछ पशुओं की आँखों पर पच्ची किए हुए टुकड़े भी लगते थे। इनसे खिलौनों की सुंदरता निःसंदेह बढ़ जाती रही होगी।

इन खिलौनों तथा मृण्मूर्तियों से उस काल के धर्म पर ही नहीं वरन् कला प्रेम पर प्रकाश पड़ता है। कलाकार उस युग में गीले पदार्थों के माध्यम में कम ही कुशलता प्राप्त कर सके थे, किंतु उनकी वास्तविक भावना कुरूप पदार्थों में भी निहित थी। उस काल में संभवतः कुम्हार खिलौनों का व्यापार करते थे। किंतु इसका क्षेत्र स्थानीय रहा होगा।

सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा में पत्थर की थोड़ी सी वस्तुएँ मिली हैं। पत्थर की मूर्तियाँ तो नहीं के बराबर हैं। मोहें-जो-दड़ो से मुलायम पत्थर का एक पुरुष धड़ प्राप्त हुआ है। यह पुरुष दाढ़ीवाला है किंतु ओंठ का ऊपरी भाग साफ है। दाएँ हाथ पर अंतक या भुजबंध जैसा कोई आभूषण है। शरीर पर तीन-पतिया अलंकरण का वस्त्र पड़ा है। बाल, बीच में भली भाँति सँवार-कर एक फ़ीते से सँभाल दिये गये हैं। आँखें अधखुली हैं और ऐसा लगता है कि दृष्टि नासिका पर स्थिल है। मूर्ति का नीचे का भाग खंडित हो गया है।[1] मैके इस आकृति को पुजारी तथा रामप्रसाद चंदा योगी की बतलाते हैं। बेबीलोन में पुरोहित तीन-पतिया अलंकरण के वस्त्रों को ही धारण करते थे। आदि पुराण में लिखा है :—

नात्युन्मिषम् न चात्यंतनिमिषम्

अर्थात् योगी की आँखें न तो पूरी बंद होनी चाहिए और पूरी खुली। इस मूर्तियों में आखें अधखुली हैं इसी कारण चंदा इसको योगी की मूर्ति मानते हैं।[2] इस आकृति के शरीर पर तीन-पतिया का जो चित्रण है वह तीन वृत्तों के समन्वय से बना है। हड़प्पा से प्राप्त कई गुरियों पर यह चित्रण दीख पड़ता है। इनमें गुरियों पर गहरी रेखाएँ डाल कर फिर उनमें रंग भरा जाता था।[3] चाँदी के एक आभूषण के ऊपर भी सोने की टोपी धारण किये सिखारी की गुरियों के द्वारा तीन-पटिया अलंकरण किया गया था। इस तीन-पटिया का विशेष महत्त्व विदित होता है। ऐसा चित्रण उर से प्राप्त बैल के शरीर तथा फ़ारस से प्राप्त भेड़े के सिरे पर भी अंकित मिला है।

यह मूर्ति निश्चय ही किसी कला परंपरा के आधार पर बनी है। ऐसा लगता है कि आकृति के नेत्रों, तीन पतिया अलंकरण तथा अंतक में भी पच्चीकारी का काम था।

खटिक में बनी एक दूसरी पत्थर की मूर्ति भी मोहें-जो-दड़ो में मिली है। इसमें आकृति घुटनों को ऊपर की ओर मोड़कर बैठी है। हाथ घुटनों पर स्थित है। चेहरा तथा नाक आवश्यकता से अधिक लम्बा दीख पड़ता है। ठुड्डी पर एक नुकीली दाढ़ी भी है। इसकी आँखों पर सीपी या किसी अन्य पत्थर की पच्चीकारी की वस्तु जड़ी थी। दूसरे उदाहरण की आकृति भी दाढ़ी वाले व्यक्ति की है। इसमें केशों की सुंदर व्यवस्था कर उन्हें तारों से बाँध दिया गया है। इसकी ऊँची नाक तथा गाल उठे हुए हैं। कड़े पत्थर में उचित कटाई न कर पा सकने से कलाकार इन दोनों मूर्तियों में सुंदरता नहीं ला सके हैं।

स्त्रियों के भी कुछ सुंदर सिर मोहें-जो-दड़ो में प्राप्त हुए हैं। एक लगभग साढ़े पाँच इंच ऊँचा सिर है, जिसके बाल घुँघराले हैं। दाहिनी आँख में, जो विचित्र ढंग से बनी है, कुछ श्वेत रंग सा दीखता है। पीले चूने के पत्थर से कटे एक दूसरे सिर में चेहरा छोटा तथा ओंठ मोटे हैं।

---

[1] मार्शल, मो० इं० सि०, जि० १, पृ० ४४ [2] मौ० रि०, अगस्त, १९२२, पृ० १९८ [3] वत्स, ध० इ०, जि० १, पृ० ३९६

सिर के पीछे एक गाँठ सी है। इसका माथा छोटा है और यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह स्त्री का या पुरुष का चेहरा है। सिंधु-सभ्यता के अंतिम युग में बनी एक आकृति के वक्ष पर कोई मोटा रुईदार कपड़ा सा बँधा है। एक शाल भी बाँईं बाँह के ऊपर से होकर वक्ष पर पड़ा है। इस मूर्ति का गला बड़ा पुष्ट लगता है। इसकी माथे और गाल की हड्डियाँ चिपटी हैं।

हड़प्पा से उच्च कोटि के शिल्प की दो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें एक तो लाल तथा दूसरी नीले-काले पत्थर की बनी है। दुर्भाग्यवश दोनों उदाहरणों में सिर खो गये हैं। अन्य अंगों को भी हानि पहुँची है। लाल पत्थर की मूर्ति में शरीर की गठन बड़े ही सुंदर ढङ्ग से प्रदर्शित हुई है। पेट, जैसा कि ऐतिहासिक युग की मूर्तियों में प्रायः दीख पड़ता है, कुछ ऊपर उठा है। दोनों कुहनियों पर छिद्र बने हैं। ये छिद्र बर्मे द्वारा कोरे गये जान पड़ते हैं। गले पर भी छिद्र हैं। ऐसा अनुमान है कि हाथ तथा सिर अलग से बनाकर फिर किसी मसाले से इन छिद्रों में जड़े जाते थे। दूसरी मूर्ति में, जो काले रंग की है, आकृति का दायाँ पैर भूमि पर टिका तथा बायाँ कुछ ऊपर उठा था। आकृति का गला भारी है। इसका सिर लोहे की कीलों से संभवतः जुड़ा था। यह किसी नर्तक की आकृति जान पड़ती है। इन मूर्तियों की सुंदरता को देखकर ज्ञात होता है कि उस काल के लोग तक्षण कला में कितने पटु थे। यही नहीं उन्हें मनुष्य शरीर के विभिन्न भागों की गठन का भी पूरा-पूरा ज्ञान था। मार्शल का कहना ठीक ही है कि ई० पू० चौथी सदी में कोई भी यूनानी कलाकार इन मूर्तियों को स्व-निर्मित कहने में गौरव समझता। इन मूर्तियों की कला में सौंदर्य सौष्ठव के तत्त्वों की प्रधानता है।

मोहें-जो-दड़ो में पाषाण की जो मूर्तियाँ मिली हैं वे अति साधारण हैं। हड़प्पा सदृश प्रागैतिहासिक स्थान से इतनी सुंदर मूर्तियों का मिलना कुछ आश्चर्य अवश्य उत्पन्न करता है। जिस तह में ये मूर्तियाँ मिली हैं वहाँ ऐतिहासिक युग की कोई अन्य वस्तु नहीं मिली है। यह भी सत्य है कि ऐतिहासिक युग में भारत में इस शैली की कोई मूर्ति नहीं बनी। हड़प्पा के स्तरों की खुदाई खनित्र शास्त्र के नूतन ढङ्ग से नहीं हुई है। किंतु अन्य प्रमाणों से पता लगता है कि इन मूर्तियों का निर्माण हड़प्पा में ही हुआ था। सर्वप्रथम तो यह कि इन मूर्तियों में बर्मे का स्वतंत्र प्रयोग हुआ है। हम देख ही चुके हैं कि बर्मे से सिंधु प्रदेश में पत्थर के कई बर्तन कोरे गए थे। फिर पच्चीकारी की जो परंपरा इन मूर्तियों में है वह सिंधु-सभ्यता के अंतर्गत आनेवाली बहुत सी वस्तुओं में मिलती हैं। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में चारों ओर से कोरी गई इन दोनों मूर्तियों का विशेष महत्त्व है।

चारों ओर से कोरी गई एक आकृति पीतल की भी है, जिसे पुरातत्त्वविद् पंडितों ने 'नर्तकी' नाम दिया है। यह मूर्ति पीतल में ढाली गई है। नर्तकी के हाथ तथा पैर लंबे हैं। उसका एक हाथ कमर पर तथा पैर गति की मुद्रा में हैं। उसके बाल अति कलात्मक ढंग से सँवारे गये हैं। यह नर्तकी किसी विशेष जाति या वर्ग की लगती है। इसकी आकृति कुल्ली से प्राप्त मृण्मूर्तियों से बहुत कुछ मिलती है।[1] इस उदाहरण के अतिरिक्त दो और पीतल की मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें भी आकृतियाँ नृत्य की मुद्रा में हैं। एक आकृति तो संभवतः किसी पीठिका पर स्थित थी।

सिंधु-सभ्यता का अनुसरण करनेवाले लोगों के कला प्रेम का परिचय उनके द्वारा व्यवहृत आभूषणों से भी मिलता है। बाजूबंद, कंठहार, लंबे हार, चूड़ियाँ, भुजबंध, अंतक तथा अंगूठियाँ आदि आभूषणों की छटा देखते ही बनती है। लंबे हारों पर विभिन्न आकार तथा रंगों की गुरियाँ

[1] पिगट, प्रि० इं०, पृ० १८७

पिरोई जाती थी। कभी-कभी इनके बीच में सुवर्ण की पट्टियों का प्रयोग भी होता था। आभूषणों में बहुमूल्य पदार्थों का सीमित उपयोग किया गया है। गोमेदसन्निभ तथा लाल गोमेद की गुरियों का विशेष प्रचलन था। चन्हूदड़ो में तो गुरियों का एक कारखाना भी था।[1] अनुमान है कि लाल गोमेद की गुरियाँ चन्हूदड़ो में बनाकर उर तथा सूसा जैसे सुदूर देशों तक भेजी जाती थीं। मोहें-जो-दड़ो की आवश्यकताओं की पूर्ति भी चन्हूदड़ो से ही संभवत: हो जाया करती थी।

मोहें-जो-दड़ो में कुछ अलंकृत लाल गोमेध की गुरियाँ भी मिली हैं। एक समय इस शैली की गुरियों का मेसोपोटामिया, फ़ारस तथा सूसा में बहुत प्रचलन था। इन गुरियों पर काले या श्वेत रंग से अलंकरण किया जाता था। रंग चढ़ाने से पहिले गुरियों की सतह पर गेरुए रंग की पालिश होती थी। इसके ऊपर फिर अन्य रंगों से चित्रण होता था। फ़ारस में ऐसी गुरियों को बनाने की प्रथा आजदिन भी वर्तमान है। सिंधु-प्रदेश के सेहवान नामक स्थान में मैके को जाँच करने पर ज्ञात हुआ था कि हैदराबाद (सिंधु-प्रदेश) में एक कारीगर इन गुरियों के बनाने की प्राचीन शैली को जानता था। दुर्भाग्यवश उसकी मृत्यु हो गई है। उसके पुत्र को भी इस कला का कुछ ज्ञान है। सिंधु-प्रदेश की लाल गोमेध की कुछ अलंकृत गुरियों को देखने से पता चलता है कि वे तब बनी थीं जब मोहें-जो-दड़ो की सभ्यता ढीली पड़ चुकी थी।

कुछ गुरियों के अलंकरण में पच्चीकारी का प्रयोग भी होता था। गुरियों पर बर्मे से हलका खुदान कर उनमें अन्य टुकड़े या रंग भर दिये जाते थे। सिंधु-सभ्यता के मग्न नगरों से साबुन पत्थर की सबसे अधिक गुरियाँ प्राप्त हुई हैं। साबुन पत्थर को पत्थर से कूट, सान तथा गीली कर फिर उससे ठप्पे द्वारा गुरियाँ बनाई जाती थीं। कुछ गुरियाँ तो संपूर्ण पत्थरों से ही काट दी गई हैं। गुरियों को नपी आँच के पैमाने से विभिन्न रंगों में पकाया जाता था। अधिकतर उदाहरणों में श्वेत रंग ही दीख पड़ता है। यह बात उल्लेखनीय है कि साबुन पत्थर में गुरियों को रँगने की प्रथा से मेसोपोटामिया, मिश्र तथा क्रीट के लोग अविज्ञ थे। साबुन पत्थर के बाद सबसे अधिक गुरियाँ चिकनी मिट्टी की बनीं। एक ही गुरिया में कई गोल या अंडाकार गुरियों को जोड़ने की प्रथा (सेगमेंटेड बीड) भी मोहें-जो-दड़ो में प्रचलित थी। इस शैली की गुरियाँ मिश्र तथा मेसोपोटामिया के लोगों को भी ज्ञात थीं। काँटेदार पहिए की शकल की गुरियाँ किसी हल्के पदार्थ में ठप्पे द्वारा बनाई जाती थीं। स्मरण रहे कि इस आकार की कोई गुरियाँ न तो मेसोपोटामिया और न मिश्र में ही अब तक मिली हैं।

मिट्टी की कई गुरियाँ भी हड़प्पा, मोहें-जो-दड़ो तथा चन्हूदड़ो में मिली हैं। कुछ दानों पर लाल रंग के चिह्न दीख पड़ते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उनको कार्नेलियन के रंग में प्रस्तुत करने का यत्न किया गया था। कुछ उदाहरणों पर हलका पीला रंग लगा था और कुछ पर चमकाने के लिए पालिश भी की गई थी। मिट्टी की गुरियों में कुछ अबरक मिलाया गया था। कभी-कभी इनके ऊपर छोटे छिद्रों का अलंकरण भी होता था। घोंघे की गुरियाएँ हड़प्पा में तो कम मिली हैं, किंतु मोहें-जो-दड़ो में इनका अच्छा प्रचार था। घोंघे की कुछ गुरियों पर छिद्र नहीं हैं। संभव है इनको कपड़े के अंदर सिलकर पहिना जाता रहा हो। सीपी की अभी तक केवल एक ही गुरिया मिली है। चन्हूदड़ो से घोंघे के दानों से बने चार कंठहार भी मिले हैं। श्वेत चट्टानी चमकीले पत्थर की गुरियों का बहुत ही कम प्रयोग हुआ था। इनमें

---

[1] मैके, च० ए०, जि० १, पृ० ४६, १६०

कुछ तो दूधिया रंग की हैं। तीन उदाहरणों में श्वेत चट्टानी पत्थर के ऊपर चमकाने की पालिश की गई थी। मोहें-जो-दड़ो के लोगों का यह प्रयोग असाधारण है। चूने के पत्थर की गुरियाँ अधिकतर पीपे की शकल की हैं।

चित्रित कार्निलियन गुरियों के अब तक केवल आठ उदाहरण मिले हैं। इस शैली की गुरियाँ ऐतिहासिक युग तक भारत में चलीं और यह ज्ञात नहीं हो सका है कि सिंधु-सभ्यता के प्रमुख नगरों में क्यों लोगों को ऐसी गुरियाँ पसंद नहीं आईं। इसमें भी आश्चर्य है कि क्यों यहाँ इस शैली में नकली गुरियाँ बनाने की आवश्यकता पड़ी। ये गुरियाँ सिखारी या अन्य ऐसे ही पदार्थों की बनी थीं। इनके ऊपर केवल श्वेत रेखाओं को छोड़ कर बाकी सतह पर लाल रंग कर दिया जाता था। कुछ गुरियो पर पच्चीकारी भी हुई है। सिखारी की कई गुरियों के ऊपर तीन-पतिया का अंकन बर्मे द्वारा किया गया है। कई तीन-पतियों के अंदर रंग भी भरा था।

मोहें-जो-दड़ो से घोंघे, चीनी मिट्टी तथा साबुन पत्थर की बनी गुरियाँ जिनके कोनों पर दाँत से बने हैं, मिली हैं। इनके अंदर बने बड़े छिद्रों से ज्ञात होता है कि इनको माला में पिरोने के लिए मोटे तार का प्रयोग होता था। इस शैली की गुरियाँ कहीं भी मध्य-पूर्वी देशों में नहीं मिली हैं। सिंधु-सभ्यता के किसी भी नगर से हाथी दाँत की गुरियाँ प्रचुर मात्रा में नहीं मिलीं। हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो से जो दो-चार उदाहरण प्राप्त भी हुए उनसे ज्ञात होता है कि हाथी दाँत की गुरियों पर पच्चीकारी भी होती थी।

धातुओं की गुरियाँ भी मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में प्रचलित थीं। सोने की गुरियाँ कई आकारों की प्राप्त हुई हैं। इनमें अंडाकार गुरियाँ आभूषणों की दो राशियों के साथ पाई गई हैं। ये दो भागों में बना कर बीच में जोड़ी जाती थीं। एक वर्तुलाकार गुरिया सोने की मोटी चादर को मोड़कर बनी है। हड़प्पा से प्राप्त सोने की गुरियों की दो टोपियाँ भी मिली हैं। इनके अंदर निस्संदेह कोई लाख जैसा पदार्थ भरा जाता था। चाँदी के आभूषण तो खुदाइयों में बहुत से मिले, किंतु इस धातु की थोड़ी सी ही गुरियाँ अब तक देखने में आई हैं। इनमें बाहर से चाँदी की पतली परत तथा अंदर से लाख जैसा कोई पदार्थ भरा गया था। बहुत सी गुरियाँ तो मुरचा लगने से नष्ट हो गई हैं, इस कारण उनके आकार तथा अलंकरण को ठीक-ठीक पहिचानना भी कठिन है। अन्य धातुओं की गुरियों के अंदर या तो कोई पदार्थ भरा जाता था या वे ठोस बनाई जाती थीं। मालाओं के बीच या अंत में रक्खे जानेवाले टुकड़े भी इन्हीं धातुओं के बनते थे। एक प्रकार की गुरियाँ भिन्न-भिन्न रंगों के पत्थरों को जोड़कर बनाई गई हैं। इनमें पत्थरों को बड़ी सुंदरता के साथ काटकर जोड़ा जाता था। पीपल की पत्तियों की तरह गुरियों में पाँच प्रकार के पत्थर जड़े थे। गुरियों की ऐसी अनुपम शैली किसी अन्य प्राचीन देश में देखने को नहीं मिलती है। गुरियाँ कई लुभावने आकारों तथा अलंकरणों सहित मिली हैं। बड़े और छोटे आकारों में लोग उन्हें बनाया करते थे। इनके लिए पत्थर भारत या विदेशों से मँगाया जाता रहा होगा। सिखारी पत्थर राजपूताना, मैसूर, मदरास, जबलपुर तथा बिहार उड़ीसा के कुछ स्थानों से प्राप्त किया जाता था। वैदूर्य तो निस्संदेह अफ़गानिस्तान के बदख्शां प्रांत से प्राप्त होता था। सुंदर हरा अमेज़न पत्थर नीलगिरि की पहाड़ियों के निकट दादाबेटा या काश्मीर से प्राप्त किया जाता रहा होगा। लाल गोमेद की गुरियों का बड़ा प्रचलन था। इस पत्थर का प्राप्ति-स्थान शायद काश्मीर, काठियावाड़ तथा राजपीपला रियासत था। लाल अपारदर्शक गोमेद की भी गुरियाँ थीं। यह पत्थर मारवाड़ तथा बिजावर के कुछ स्थानों में पाया जाता है। मोहें-जो-दड़ो में यह पत्थर शायद राजपूताना से ही आया होगा।

जामुनी तथा नील लोहित स्फटिक की भी, जो दक्षिणी पठार या बिहार उड़ीसा की देन है, कई सुंदर गुरियाँ बनी थीं। गोमेद सज्जिव संभवतः पलनाद के निकट गोदावरी के पुलिन से प्राप्त किया जाता था।

सोने तथा चाँदी के कई आभूषण खुदाइयों में निकले हैं। सोना तो भारत के ही किसी भाग से मँगाया जाता रहा होगा। दक्षिण भारत (मैसूर) में आज तक सोने की खानें वर्तमान हैं। कोलर के सोने में चाँदी मिश्रित है और ठीक इन्ही तत्त्वों की धातु मोहें-जो-दड़ो में भी मिली है। संभव है अनन्तपुर से भी सोना मँगाया जाता रहा हो। चाँदी का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। सोने की अपेक्षा बड़ी-बड़ी वस्तुओं के लिए चाँदी का ही प्रयोग होता था। चाँदी भागलपुर, मानभूम, मुंगेर तथा बिहार-उड़ीसा के सिंहभूम प्रदेशों से प्राप्त की जाती थी। चाँदी के कुछ आभूषणों में सीसा भी मिला हुआ है। मैसूर तथा मद्रास में भी चाँदी की खानें थीं किंतु यहाँ की धातु स्वर्ण-मिश्रित है। यदि मोहें-जो-दड़ों के निवासी धातुओं को अलग करने की विधि से परिचित थे तो यह माना जा सकता है कि सिंधु प्रदेश में सोना दक्षिण भारत से ही लाया जाता था। ताँबा बलूचिस्तान के पश्चिमी भाग, अरब और दक्षिण अफ़गानिस्तान में अधिकतर मिलता है। भारत में ताँबे की खानें, अजमेर, सिरोही, खेतड़ी तथा मेवाड़ में हैं। मोहें-जो-दड़ो में एक स्थान पर ताँबे का गला हुआ ढेर भी मिला था। इससे ज्ञात होता है कि विभिन्न वस्तुओं को बनाने में आवश्यकतानुसार धातु को गलाया जाता था। सिंधु-सभ्यता के प्रमुख नगरों में पीतल की कई वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। इस धातु की कुछ वस्तुएँ साँचों द्वारा ढाली गई थीं। कुछ पिटी चद्दरों तथा कुछ ठोस टुकड़ों से भी बनाई जाती थी। सिंधु प्रदेश तथा पंजाब में ताँबा तथा पीतल साथ-साथ चलते थे, इसी कारण इस सभ्यता को भी नवीन प्रस्तर-युग की सभ्यता कहते हैं। जान पड़ता है कि सिंधु प्रदेश के निवासियों को पीतल कम मात्रा में प्राप्त होता था।

स्मिथ ने, १९०५ में एक लेख के द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि भारतीय सभ्यता के क्रम में पीतल के युग का कोई स्थान नहीं था। उस समय इस देश में सचमुच पीतल के युग की थोड़ी-सी वस्तुएँ उपलब्ध थीं। उनके लिए स्मिथ का कहना था कि वे भारत में बाहरी देशों से लाई गई थीं।[1] किंतु मोहें-जो-दड़ो की सभ्यता के प्रकाश में आने से इस धारणा का खंडन हो गया है। संसार की अन्य सभ्यताओं की ही तरह भारत का भी एक पीतल का युग था।

सीसे का सीमित प्रयोग मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में हुआ है। यह पीतल तथा ताँबे में भी आवश्यकतानुसार मिला पाया गया है। एक स्थान पर मोहें-जो-दड़ों में गला सीसा भी प्राप्त हुआ है। इस धातु की एक दर्शनीय तश्तरी मिली है। सीसे का प्राप्तिस्थान अजमेर, बिहार-उड़ीसा तथा मद्रास था। पश्चिम में अफ़गानिस्तान की घोरबंद घाटी में स्थित फ़ारंजल नामक स्थान में भी सीसे की खानें थीं, किंतु मार्शल की धारणा है कि सिंधु प्रदेश तथा पंजाब में सीसा अजमेर की खानों से ही प्राप्त किया गया होगा।

टीन पृथक् धातु के रूप में प्राप्त नहीं हुआ है। यह प्रायः तेज धारवाले औजारों या हथियारों के लिए ही अधिकतर प्रयोग किया जाता था। टीन हजारीबाग प्रदेश या फ़ारस के उत्तर-पश्चिम में कराडाग प्रदेश से प्राप्त किया जाता रहा होगा।

---

[1] इं० ऐं०, १९०५, पृ० २०६.

बहुमूल्यता के कारण हाथी दाँत की बहुत ही कम वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। मोहें-जो-दड़ो की खुदाइयों में अभी तक केवल दो हाथी दाँत की वस्तुएँ मिली हैं। ये, एक स्थान पर, मनुष्य के अस्थिपंजरों के बीच पड़ी मिली थीं। हाथी दाँत में से पच्चीकारी के टुकड़े, पाँसे, गुरियाँ, बर्तनों के ढकने आदि वस्तुएँ ही काटी जाती थीं। गोल कटे हाथी दाँत के बने छड़ भी मिले हैं। इनमें सबसे लंबा ६" का है। इसका एक सिरा पैना होता था। पता नहीं ये छड़ किस काम आते थे। एक पात्र का ऊपरी और तल का भाग केवल हाथी दाँत का बना था। इसके ऊपर उभार कर सुंदर वृत्त अंकित है। मोहें-जो-दड़ो में पत्थर में अधूरी कटी कई गुरियाँ भी मिली हैं, जिनसे कि ज्ञात होता है कि इनको वहीं बनाया जाता था। इस नगर के भग्नावशेषों से कोई भी गुरियाँ बनाने का कारखाना देखने में नहीं आया है। यह हो सकता है कि अगली खुदाइयों में कोई ऐसा स्थान दृष्टि में आ सके। चन्हूदड़ो में एक विचित्र भवन है। इसके सामने का भाग ३३ फ़ीट लम्बा तथा ११ फ़ीट ६ इंच चौड़ा था। इसके अंदर द्वार सहित एक छोटा कमरा था। उत्तर-पश्चिमी ओर कई चूल्हे तथा पतनारे बने थे। इन पतनारों से भाप उत्पन्न की जाती थी। एक कमरे में बहुत सी अधूरी गुरियाँ बिखरी पड़ी थीं। इनके साथ धातु तथा पत्थर के हथियार भी थे।[1] चन्हूदड़ो के अन्य कई घरों में पत्थर की छेनियाँ तथा अधूरी गुरियाँ मिली हैं। पत्थर की कुछ छेनियां खंडितावस्था में भी मिली हैं। गुरियों में बहुत छोटे छिद्र हैं और आश्चर्य होता है कि उनके अंदर कैसे इतने छोटे-छोटे छेद बनाए जा सके होंगे। कई घरों में गुरियाँ बनाने के लिए रखे पत्थरों के ढेर भी दीख पड़े हैं।

सिंधु-सभ्यता की कला के सर्वोत्तम उदाहरण मोहें-जो-दड़ो, चन्हूदड़ो तथा हड़प्पा से प्राप्त मुद्राओं तथा ताबीज़ों में अंकित दृश्यों में मिलता है। इनका औसतन आकार ०.७ × १.२५ इंच है। ये मुद्राएँ अधिकतर साबुन पत्थर तथा चीनी-मिट्टी में बनी हैं। पहिले ये आरी से काटी जातीं और फिर चाकू से इनके कोने आदि ठीक कर दिए जाते थे। इन पर चमक लाने के लिए किसी पदार्थ को लगाया जाता था। जिन मुद्राओं पर पशु तथा लेख हैं वे तो मुद्रा तथा ताबीज़ दोनों का काम देती थीं; जिनमें केवल पशु हैं वे संभवतः ताबीज़ थे। इन मुद्राओं पर कई जाति के पशुओं का अंकन है। बैल, हाथी, गैंड़ा, नीलगाय, तथा भैंसा का बड़ा सजीव चित्रण इन मुद्राओं पर उतारा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकारों को पशुओं के अंग-प्रत्यंग के अध्ययन की सुविधाएँ प्राप्त थीं। इन उदाहरणों से कलाकारों की सूक्ष्मनिरीक्षा तथा पर्यवेक्षण-शक्ति स्पष्ट रूप में प्रदर्शित है। कलाकारों को इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि कला का सौंदर्य से क्या संबंध है और उसकी अभिव्यक्ति किस रूप में होना चाहिए। पशुओं का ऐसा स्वाभाविक तथा गौरवशाली चित्रण सैकड़ों वर्ष बाद फिर मौर्यकाल की कला में दीख पड़ता है। पशुओं का ठीक ऐसा ही चित्रण यूनानी कला में भी हुआ है। मोहें-जो-दड़ो की यह कला परिपक्व रूप में हमारे सम्मुख आई है। इसके प्रारंभ तथा क्रमिक विकास के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है। हाथ से बने खिलौनों की शैली के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। पीतल के ढले हुए एक बैल तथा भैंसे की आकृति भी मोहें-जो-दड़ो में मिली है। पीतल का प्रयोग उसी शैली में होता था, जैसा कि बाद में नालंदा विहार के धातु विशेषज्ञों ने किया था।[2] सिंधु-सभ्यता के कलाकार कई माध्यमों में कुशलतापूर्वक कार्य कर सकते थे। यह आश्चर्य है कि इतनी विशद खुदाइयों में कहीं भी ठप्पे नहीं मिले हैं।

---

[1] मैके, च० ए०, पृ० ४१-३. [2] वत्स, ए० ह०, जि० १, पृ० ४७२-३

हड़प्पा में चौदह भांड़े भी खुदाइयों में निकले हैं। इनमें तेरह उदाहरणों के घेरे नाशपाती की शकल के हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन भाड़ों में बर्तनों को आवश्यकतानुसार कई मात्राओं में गर्मी पहुँचाई जाती थी। कुछ भाड़ों में हल्की आँच के लिए सूखे गोबर का प्रयोग किया गया था। संभव है इनमें मुलायम पदार्थों की वस्तुएँ पकाई जाती थीं। मोहें-जो-दड़ो में दो छोटे आकार के भट्ठे मिले हैं। इन भट्ठों में तेज़ अग्नि उत्पन्न होती रही होगी, इस कारण उनमें मिट्टी के बर्तनों को पकाया जाना संभव नहीं था। मुलायम वस्तुओं के अतिरिक्त इनमें धातुओं के बर्तन भी ढाले जाते रहे होंगे।

सिंधु प्रदेश तथा पंजाब के प्रागैतिहासिक स्थानों से कई प्रकार के मृत्पात्र मिले हैं। ये बर्तन कुंभ पर ही प्रधानतया बनाये जाते थे यद्यपि कुम्हार का कोई चाक वहाँ की खुदाइयों में नहीं निकला है। सिंधु-सभ्यता के अंतिम चरण में बने छः-सात भट्ठे मिले हैं। ये गोलाकार हैं। जलाने के लिए बने चूल्हों के ऊपर फ़र्शों पर भी कई छिद्र वर्तमान थे। राख आदि निकालने के लिए कुछ गुम्बद शैली के भट्ठों के तलों पर एक बड़ा छिद्र बना दिया जाता था। मोहें-जो-दड़ो में छः भाड़ एक ही स्थान पर थे और अनुमानतः यहाँ पर कुम्हारों का मुहल्ला रहा होगा।[1] मिट्टी निकटवर्ती स्थानों से प्राप्त कर ली जाती थी। इस मिट्टी में कभी बालू, कभी चूना और कभी दोनों पदार्थ मिश्रित रूप में थे। सभी बर्तन उपादेयता के ध्येय से बने थे, किंतु फिर भी कुम्हारों की कल्पनात्मक प्रवृत्तियाँ भी निरंतर काम करती रहीं। मिट्टी का रंग पकाने से कभी तेज़ या हल्का लाल तथा कभी नीला हो जाता था। नीला रंग लाने के लिए किसी विशेष मिश्रित पदार्थ का भी संभवतः प्रयोग में होता था। नीले रंग के बर्तनों पर कभी-कभी काले रंग की पालिश कर दी जाती थी। पतली सतह के बर्तनों के लिए एक और प्रकार की मिट्टी, जिसका रंग हल्का लाल है, व्यवहृत होती थी। इन मिट्टी के बर्तनों की गठन अधिक दृढ़ है। मिट्टी में अभ्रक चूना, बालू आदि भी कभी-कभी मिला दिया जाता था। प्रायः सभी बर्तन बड़ी सतर्कता के साथ पकाए गये मालूम होते हैं। हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो के कई बर्तनों में समानता है। एक विशेष वर्ग के बर्तनों पर पतले, हल्के लाल या पीले रंग की पालिश की जाती थी। कत्थई रंग भी कुछ बर्तनों पर लगा था। रंग लगाकर फिर उसे किसी वस्तु से घोटा जाता था, जिससे कि उसके ऊपर चमक आ सके। मोहें-जो-दड़ो से अस्सी मील-दक्षिण दिशा में स्थित 'आम्री' नामक स्थान से मजूमदार को एक ऐसे ढंग के बर्तन मिले थे जिनकी सतह के हल्के-पीले रंग की पृष्ठभूमि पर गहरे लाल या काले रंगों का चित्रण होता था। विभिन्न रंगों के अलंकरणवाले बर्तन चन्हूदड़ो में भी मिले हैं। किंतु मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में इस शैली के इने-गिने ही बर्तन प्राप्त हुए। स्मरण रहे कि विभिन्न रंगों से चित्रित मिट्टी के बर्तन निम्न सतहों से ही अधिकतर प्राप्त हुए हैं। इन पर किसी भी प्रकार का अंकन नहीं किया गया है। इनकी लाल सतह के ऊपर केवल काले रंग का चित्रण होता था। इस शैली के बर्तन उत्तरी बलूचिस्तान में रन घुंडई तथा पेरियानो घुंडई नामक स्थान में प्राप्त हुए हैं। सतह पर गेरू रंग है जो कि दक्षिण भारत या फ़ारस की खाड़ी से प्राप्त किया जाता था। हाथ के बने मिट्टी के बर्तन अति साधारण हैं। इनके ऊपर भी कभी-कभी हल्का रंग लगा दिया जाता था किंतु इन पर पालिश नहीं थी।

मिट्टी के बर्तनों पर कूँचियों द्वारा रंगे, बेल-बूटे तथा अन्य अलंकरण रमणीय तथा हृदयग्राही हैं। मोहें-जो-दड़ो के बर्तनों पर चित्रकारी कम ही की गई है, किंतु चन्हूदड़ो तथा हड़प्पा के

[1] पिगट, प्रा० इं०, पृ० १६१

बहुत से बर्तनों की बाहरी सतह विभिन्न प्रकार के अलंकरणों से भरी है। कलाकारों के सम्मुख अलंकरण के दो प्रमुख तत्त्व थे। वे कभी रेखागणित या एक दूसरे वृत्त को काटते हुए अलंकरण या कभी वृक्ष, पत्ती तथा पशु मात्र का चित्रण करते थे। कई छोटे तथा साधारण बर्तनों के गले या तले पर रेखाओं से सादी कन्नी अंकित की गई है। यह ठीक ज्ञात नहीं है कि रेखागणित के अलंकरण तत्त्वों पर रंग लगाने से पूर्व बर्तनों की सतह पर उसकी रूप-रेखा बना दी जाती थी या नहीं। वैसे मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त एक बर्तन पर हल्की रेखाएँ खुदी दीख पड़ती हैं। इनके ऊपर बाद में अलंकरण करने की योजना रही होगी।[1] दो वृत्तों के बीच एक बिंदी, डमरू की तरह जाली, पंखुड़ी जैसी आकृति, ऊपर-नीचे दौड़ती रेखाएँ, चौपड़ की तख्ती पर बने समचतुस्र भाग, कोण तथा तारे का अंकन विशद रूप में सिंधु प्रदेश के बर्तनों पर हुआ है। एक दूसरे को काटते हुए वृत्तों से निकली पत्तियों का तो अलौकिक चित्रण कई बर्तनों पर मिलता है।

यह आश्चर्य है कि मानव-आकृति का चित्रण मोहें-जो-दड़ो तथा चन्हूदड़ो के मृत्पात्रों पर नहीं किया गया है। हड़प्पा के उदाहरणों में अवश्य कुछ मानव आकृतियाँ अंकित हैं, किंतु ऐसे अलंकरण बाद के युगों के मृत्पात्रों पर ही अकित हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक खंडित मृत्पात्र पर एक मछुवा बाँस पर लटकाये दो जाल लिये जा रहा है। उसके पैरों के निकट मछली तथा कछुवा चित्रित हैं। निचले भाग में एक जाली सी बनी है। शायद जाली नदी का संकेत करती हो। हड़प्पा के एक दूसरे खण्डित पात्र को अलंकरण के लिए तीन भागों में बाँटा गया था। ऊपरी भाग में तो टोकरियों की बिनाई जैसा चित्रण है। मध्य भाग में पाँसे के समचतुस्र भाग, वृक्ष, मनुष्य, हरिण तथा चिड़ियाँ हैं। सबसे निचले भाग में सितारों का चित्रण है। मध्य भाग में सबसे महत्वपूर्ण दृश्य अंकित है। बाईं ओर किसी वृक्ष की टहनियों पर चिड़ियाँ बैठी हैं। इसके बाद बच्चे को दूध पिलाता बतख, कौआ, तारे की आकृति, मछली आदि अंकित हैं। दायीं ओर बिल्कुल किनारे पर एक मनुष्य हाथ को ऊपर उठाये है। उसके निकट दो हाथों को कुछ ऊपर उठाये एक बच्चा भी खड़ा है। इसके साथ फिर कौआ तथा [illegible] हैं।

पात्रों की सतह पर पशु-पक्षियों का भी चित्रण हुआ है। कई पात्रों पर आल्प्स जाति के बकरे (आईवेक्स) का चित्र खींचा गया है। हड़प्पा में यह पशु चित्रित नहीं हुआ और चन्हूदड़ो में केवल एक ही उदाहरण में यह दीख पड़ता है। हिरन का अंकन भी मोहें-जो-दड़ो तथा चन्हूदड़ो के पात्रों पर हुआ है। इसके लंबे सींगों तथा खड़ी पूँछ के सिरे पर गुच्छे बने हैं। अन्य चित्रित पशुओं में बकरी, खरगोश, साँप, मोर, गिलहरी, मछलियाँ उल्लेखनीय हैं। पात्रों की सतह पर सीमित स्थान होने से पशुओं के अंग कभी-कभी काट दिये गये हैं। इसी कारण चन्हूदड़ो के एक मृत्पात्र पर बकरी के अगले पैर चित्रित नहीं किये जा सके हैं। यह बात स्मरणीय है कि इन पशुओं के शरीर पर रंग नहीं चढ़ाया गया है। रंग की कमी या अन्य किसी कारण से शरीरों को साधारण रेखाओं से भर दिया जाता था। पक्षियों में मोर सबसे प्रिय था। वृक्षों के बीच इसके विचरण करने के दृश्य बड़े लुभावने हैं। जंगली मुर्गे का भी मोहें-जो-दड़ो के पात्रों पर चित्रण हुआ है। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त केवल एक पात्र पर मछली का अंकन दीख पड़ा है। यहाँ के निवासियों को मछली का पूर्ण ज्ञान था। उन्होंने इसको मुद्राओं पर भी स्थान दिया। फिर भी आश्चर्य होता है कि क्यों मछली को बर्तनों के ऊपर विशद रूप में चित्रित नहीं किया गया। मृत्पात्रों की सतह भरने के लिए कुम्हारों ने कई वर्ग के पेड़-पत्तियों को भी चुना,

[1] मैके, फ० ए० मो०, जिल्द १, पृ० २२

इनमें खजूर, पीपल तथा नीम उल्लेखनीय हैं। कल्पना की उड़ान में कुम्हार ने कभी-कभी वृक्षों को वास्तविकता से दूर हटा दिया है। खजूर के चौड़े पत्तों का अलंकरण बड़ा ही सुंदर हुआ है। मोहें-जो-दड़ो के मृत्पात्रों पर अभी तक पीपल का चित्रण नहीं दीख पड़ा है। मैके का कथन ठीक ही है कि संसार की अन्य किसी सभ्यता में वृक्ष-पत्तियों को ऐसा गौरव प्राप्त नहीं हुआ जैसा कि सिंधु-प्रदेश की कला में हुआ है।

कंघे के दाँतों जैसा चित्रण भी बर्तनों पर दीख पड़ता है। बुनाई, गुब्बारा, तारे, स्वस्तिका, फेफड़े की आकृति, सीढ़ी, बिछा चमड़ा तथा पात्रों के आकार की कई वस्तुएँ मृत्पात्रों पर चित्रित की गई हैं।

हड़प्पा से प्राप्त कुछ मृत्पात्रों के दृश्य अलौकिक हैं। एक पात्र के गले पर उड़ते हुए मोर दिखलाये गये हैं। इनके बीच में तारे बने हैं। मोरों की पीठ पर कहीं-कहीं पर काल्पनिक अर्द्ध मनुष्य तथा पशु आकृतियाँ दीख पड़ती हैं। सम्भवतः ये पक्षी मनुष्य के 'सूक्ष्म शरीर' को स्वर्ग ले जाते चित्रित किये गये हैं। मोर के सिर पर कहीं-कहीं सींग भी दीख पड़ते हैं। ऐसा अनुमान है कि उस काल की शवदाह या संस्कार प्रणाली में मोर पक्षी का विशेष महत्त्व था।[1] चन्हूदड़ो से प्राप्त दो बर्तनों के टुकड़ों पर मोर सर्पों पर झपटते दिखलाई पड़ते हैं।

हड़प्पा से प्राप्त एक मृत्पात्र की सतह पर विचित्र दृश्य अंकित है। इसमें रेखाओं द्वारा बर्तन का गला दो भागों में विभाजित किया गया है। नीचे के भाग में तो पत्तियों और सितारों का अलंकरण है। ऊपरी भाग में एक ओर चंचुधारी मनुष्य के दोनों ओर विचित्र पशु, संभवतः बैल खड़े हैं। इन पशुओं के लंबे सींग सिरे पर पीछे की ओर मोड़ दिये गये हैं। चंचुधारी मनुष्य इन पशुओं को बाँधे रस्सी को हाथ तथा पैरों से थामे हुए है। बाईं ओर के पशु पर एक कुत्ता धावा करता दीख पड़ता है। कुत्ते ने पशु की पूछ मुँह में दबा ली है। कुत्ते के पीछे दो मोर भी आपस में लड़ रहे हैं। इन दोनों दृश्यों के बीच में एक बड़े आकार का बकरा जिसके बड़े सींगों पर आठ त्रिशूल जुड़े हैं अंकित किया गया है। पात्र की दूसरी ओर भी ऐसा ही दृश्य अंकित है। अंतर केवल इतना ही है कि इस ओर पशुओं के सींगों के बीच त्रिशूल बना दिये गये हैं। बाईं ओर के पशु की पूँछ भी शायद कुत्ते द्वारा नोच ली गई थी। इस दृश्य की कहानी का प्रारंभ दायीं ओर से हुआ है। शव स्थान से प्राप्त इस पात्र पर चित्रित दृश्य का संबंध अवश्य मृतक के दूसरे जीवन से था। वत्स का कहना है कि दृश्य में अंकित दो कुत्ते, यमराज के हैं। भारतीय आर्यों की कल्पना में यमराज की सीमा को पार करने के लिए मृतक को 'अनुसतरणी' या 'वैतरणी' नामक गाय की आवश्यकता पड़ती थी। संभव है पात्रों में अंकित बैल इन्हीं गायों का कोई एक पूर्व रूप हो।[2]

इस विशद चित्रण से ज्ञात होता है कि हड़प्पा निवासियों ने परलोक संबंधी अनेक काल्पनिक धारणाएँ बना ली थीं।

पात्रों पर चित्रण करने के लिए कूचियाँ किस वस्तु की बनती थीं यह ज्ञात नहीं हो सका है। आजकल के सिंधी कुम्हार तो अधिकतर गदहे के बालों की कूची का प्रयोग करते हैं। उस समय भी या तो ताड़ के बारीक पत्तों या गदहे के बालों की कूचियाँ बनाई जाती रही होंगी। बर्तनों पर जो चौड़ी रंगीन रेखाएँ हैं, उनको निस्संदेह कलम से रँगा गया था।

तत्कालीन समाज के लिए सिंधु प्रदेश के कुम्हारों की सबसे बड़ी देन नाना भाँति के

---

[1] वत्स, ध० ह०, जि० १, २०७-८ [2] वही

आकारों के मृत्पात्र थे। इनमें अधिकतर उदाहरण खंडित अवस्था में पाये गये हैं। जो बचे हैं उनसे सिंधु-सभ्यता के कला-कौशल पर प्रकाश पड़ता है। पिघलनेवाले द्रव्यों को संगृहीत करने के हेतु बने पात्रों के अंदर सीमेंट जैसे पदार्थ का हल्का पलस्तर लगा दिया जाता था। ऐसे बर्तनों के तलों से यह भी ज्ञात हो जाता है कि कुम्हार ने इन्हें घूमते हुए चाक पर से डोरी द्वारा गीली दशा में काटा था। नीचे के स्तरों से अधिकतर हाथ से बने मृत्पात्र मिले हैं। इनमें थोड़े से ही उदाहरणों पर हल्की पालिश लगी थी। कुछ हाँड़ियों के गलों पर छिद्र भी बने हैं। इन पर डोरी डालकर उन्हें लटकाया जाता रहा होगा। सिंधु-सभ्यता के भग्न नगरों में सीधे या खड़े बर्तनों का अभाव है। कुम्हार बर्तन के पेट या शरीर को गोल रूप देना चाहते थे। बर्तनों में आहुति-आधार लंबी गर्दन के पात्र (जो दो भागों में बनाकर जोड़े गये थे), छोटे मुँह की हाँड़ियाँ, तश्तरियाँ आदि उल्लेखनीय हैं। यह आश्चर्य है कि अभी तक मोहें-जो-दड़ो में कोई टोंटीदार बर्तन नहीं मिला है। इसी प्रकार केवल दो-तीन उदाहरणों में पकड़ने की मूठें दीख पड़ी हैं। एक शैली की हाँड़ियों की सतह पर पंक्तियों में उठे दाने बने हैं। इनके थोड़े से ही उदाहरण अभी तक मिले हैं। संभव है इस ढंग के पात्रों का कोई विशेष प्रयोग रहा हो। तल पर नुकीले तथा बीच में गोल, छः इंच ऊँचे कुछ खंडित बर्तन मोहें-जो-दड़ो में निकले हैं। ये संभवतः जल पीने के पात्र थे। भारत में अभी तक जल पीने के बाद पात्रों को तोड़ देने की प्रथा चली आ रही है।

मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त किसी भी बर्तन पर लेख या लिपि अंकित नहीं है। किंतु हड़प्पा में चिह्न सहित ऐसे बहुत से बर्तन मिले हैं। यह बतलाना कठिन है कि बर्तनों पर ये नाम कुम्हारों के हैं या उनके अधिकारियों के। सिंधु-सभ्यता के लोग औज़ारों से भी मृत्पात्रों पर अलंकरण करते थे। यह कार्य तभी संपन्न किया जाता होगा जब कि बर्तन गीले रहे होंगे। कई बर्तनों पर गीली अवस्था में कंघे से अलंकरण किया गया है।[1] नीचे के स्तरों से निकले कुछ पात्रों पर खड़ी तथा कुछ पर घूमती समानांतर रेखाएँ चित्रित हैं।

सिंधु-प्रदेश में कुम्हार की कला ने बड़ी उन्नति प्राप्त की। इसी कारण आज दिन भी सिंधु प्रदेश के बर्तनों की प्रसिद्धि है। मैके ने वेलेरैजी नामक ग्राम (जो मोहें-जो-दड़ो से दो मील की दूरी पर स्थित है) में कुम्भ-कला का अध्ययन किया है। इस गाँव के तीन कुटुम्ब निकटवर्ती ग्रामों के लिए मिट्टी के बर्तन बनाते हैं। ये छः प्रकार के चाक तथा दो प्रकार की कूंचियों का प्रयोग करते हैं। एक प्रकार की कूंचियाँ तो वे ताड़ की पत्ती के मध्य भाग को पैना करके बनाते हैं और दूसरे प्रकार की कूंचियाँ बछड़े की गरदन पर के बालों से बनती हैं। कुम्हार की कला सिंधु-सभ्यता के अंतर्गत स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हुई थी। इसमें विदेशी तत्त्व भी समय-समय पर आये होंगे किंतु मोहें-जो-दड़ो की कला ने उन्हें अच्छी तरह पचा लिया। मोहें-जो-दड़ो के निकटवर्ती एक गाँव में आजदिन भी विचित्र रंगों से अलंकृत पात्र बनते हैं। यह रंग प्राचीन शैली के अनुकूल ही है किंतु अब पात्रों की बनावट में बहुत परिवर्तन हो चला है। आजकल सिंधु प्रदेश में हला नामक स्थान कुंभ-कला का केन्द्र माना जाता है। १८७१ की एक अंतर्राष्ट्रीय प्रदर्शिनी में सिंधु-प्रदेश के बर्तनों की विशेष प्रशंसा हुई थी। कई सदियों तक बर्तनों पर रंग लगते गये किंतु सबसे अधिक काल तक लाल पालिश के ऊपर काले रंग का चित्रण चलता रहा। सिंधु-सभ्यता के लोग उपयोगिता की ओर अधिक ध्यान देते थे। इसलिए केवल सादी पकाई मिट्टी को ही उन्होंने महत्त्वपूर्ण समझा। मृत्पात्रों के अलंकरण सहित कई सुंदर उदाहरण आम्री में मिले हैं। किंतु ये सिंधु-

[1] मैके, फ० ए० मो०, जि० १, पृ० १८४

सभ्यता के बर्तनों से भिन्न हैं। आम्री की सभ्यता सिंधु-सभ्यता से कुछ पहले की है। झानगर, झूकर तथा लोहम-जो-दड़ो की ऊपरी सतह पर प्राप्त मृत्पात्रों से ज्ञात होता है कि सिंधु-सभ्यता अवनति की ओर जा रही थी। ये पात्र अति साधारण हैं। झूकर तथा लोहम-जो-दड़ो में लाल के ऊपर काले रंग का अलंकरण होता रहा। झानगर शैली के काली मिट्टी के बर्तन मोहें-जो-दड़ो की ऊपरी सतहों पर भी मिले हैं। बाद में लाल सतह के ऊपर काले रंग की चित्रकारी का महत्त्व घट गया था।

पशु आकृति के बहुत कम बर्तन मोहें-जो-दड़ो में मिले हैं। एक बैठा भेंड़ा घड़े के रूप में मिला है। पशु की आँखें मिट्टी की पट्टियों से अलग से जोड़ी गई थीं। पशु का पेट खोखला ही है। अगले तथा पिछले पैर साधारण रूप से बने हैं। संभव है यह पात्र दवात का काम देता रहा हो।

सैकड़ों मिट्टी के बर्तनों के प्राप्त होने से ज्ञात होता है कि मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में कुम्हार बहुतायत से बर्तनों को बनाते थे। ये कुम्हार नगर के बाहर ही रहा करते होंगे। गंदगी के अतिरिक्त नगर में भट्ठों के द्वारा निकले धुएँ से स्वास्थ्य को हानि पहुँचने का भी डर था। मोहें-जो-दड़ो में नगर के एक भाग को कुम्हारों का मुहल्ला माना गया है, किंतु यह तब बसा होगा जब इस नगर की महत्ता घट चली थी और नगरपालिका के नियमों का उल्लंघन होने लगा था।

अपने यश के दिनों में सिंधु-सभ्यता ने कई कला-कौशलों में विशेषता प्राप्त की। सिंधु-सभ्यता के मृत्पात्रों की लाल सतह पर जो काले रंग की पालिश हुई है, ऐसी शैली संसार के अन्य किसी देश को ज्ञात नहीं थी। यह सिंधु-प्रदेश की परम्परागत स्थायी शैली थी।[1] यह सत्य है कि मृत्तिका शिल्प की कई उच्चताओं तक वे नहीं पहुँच पाये। भारतीय मूर्तिकला का शिलारोपण सिंधु-प्रदेश तथा पंजाब के प्रागैतिहासिककालीन नगरों में ही हुआ था। दीक्षित के मतानुसार योगी की मूर्ति भारतीय मूर्तिकला का सर्वप्रथम उदाहरण है। अन्य देशों की भाँति यहाँ की कला भी अपनी परवर्ती कला पर प्रकाश डालती है। लंबे नेत्र तथा उनके नासिका के अग्र भाग में स्थिर होना बाद की भारतीय कला में भी पाया जाता है।[2] वास्तव में बौद्ध तथा जैन धर्म की अनेक मूर्तियाँ योग की मुद्राओं का परिचय देती हैं। श्री चंदा तो यहाँ तक कहते हैं कि पहली सदी में भगवान् बुद्ध और जैन तीर्थंकरों की जो मूर्तियाँ बनीं उनकी परंपरा सिंधु-सभ्यता से आई थी। पहली सदी बाद जब योग का प्रचलन दृढ़ हुआ तो योग की मुद्राओं में मूर्तियाँ बनने लगीं।

मुद्राओं में अंकित पशुओं के चित्रण में एक अद्भुत विशिष्टता तथा ऐश्वर्य का दर्शन मिलता है। सिंधु-सभ्यता के कलाकारों ने पशुओं के चित्रण में जो विशेष रुचि दिखलाई वह आधुनिक काल तक वर्तमान है। मौर्यकालीन, भरहुत, साँची तथा अमरावती की कला में पशु सचमुच अमर हो गये हैं।

यदि हम मान लें कि पत्थर के कुछ सिर जीवित लोगों की प्रतिकृतियाँ थीं तो हम सिंधु-सभ्यता को यथार्थवादी कला कहेंगे। इसमें संदेह नहीं है कि मुद्राओं पर चित्रण यथार्थवादी है। कदाचित् उस काल के कलाकार ध्यान मंत्र का साधन नहीं करते थे। आदर्शवाद के

[1] एंशंट इंजिप्ट एंड दि ईस्ट, मार्च-जून, १९३३, पृ० १ [2] चंदा, मे० इं० स्क०, पृ० १०

झीने आवरण, जो कि भारतीय कला की विशेषता है उसे सिंधु-प्रदेश निवासी अपनी कला में नहीं ला सके। कतिपय कलामर्मज्ञों का ठीक ही कहना है कि उच्च कला में कलाकार के मनोवेगों, अनुभवों तथा दार्शनिक विचारों की झलक होनी चाहिए। ऐसे तत्त्वों का कोई भी उदाहरण हमें सिंधु-सभ्यता के कला-अवशेषों में प्राप्त नहीं हुआ है।

खिलौनों, योगी की मूर्ति तथा नर्तकियों का धर्म से विशेष संबंध लगता है। खेद है कि मूर्तिकला के कोई भी संपूर्ण या अधिक उदाहरण मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में नहीं प्राप्त हो सके हैं। हड़प्पा में कुछ अच्छी मूर्तियाँ निकली हैं। अनेक प्रमाणों से ज्ञात हो गया है कि इनका निर्माण सिंधु-सभ्यता के उत्थान-काल में हुआ था। आश्चर्य इसी बात का रह जाता है कि ऐसे और अन्य उदाहरण हड़प्पा या मोहें-जो-दड़ो में क्यों अभी तक नहीं मिले हैं। इन मूर्तियों के विशेष गुण इन्हीं के साथ क्यों छिप गये यह विडम्बना है। प्राक् मौर्यकालीन यक्षों तथा मौर्यकाल की कला में हड़प्पा की मूर्तियों की परंपरा की तनिक भी छाप नहीं है। यह हो सकता है कि सिंधु-सभ्यता में बुद्ध तथा महावीर जैसा विशिष्ट विचारधारा का कोई नेता न जन्मा हो। या वहाँ कोई ऐसा धर्म उत्पन्न नहीं हुआ जिसके प्रसारण में मूर्ति उपासना को अपनाने की आवश्यकता पड़ती। हम जानते हैं कि बुद्ध भगवान् की प्रतिमा बनने से पूर्व धार्मिक क्षेत्र में कितने परिवर्तन हुए थे। भागवतधर्म की उत्पत्ति के साथ सैकड़ों वर्षों से कर्मकांड की पद्धतियों का अनुसरण करनेवाली जनता ईसा की प्रथम सदी में देव-पूजा की ओर अग्रसर हुई। उसी समय बौद्धधर्म की महायान शाखा भी उत्पन्न हुई। इन्हीं तत्त्वों के प्रभाव से मथुरा में सर्वप्रथम बुद्ध भगवान् की प्रतिमा बनी।

अष्टम अध्याय

स्थापत्य

मोहें-जो-दड़ो, चन्हूदड़ो, हड़प्पा तथा सिंधु प्रदेश के अन्य कई स्थानों से भग्न मकान निकले हैं। खेद है कि कोई भी भवन संपूर्ण अवस्था में नहीं प्राप्त हो सका है। जो अवशेष मिले भी हैं उनसे भवनों की रूपरेखा निकालने में कठिनाई पड़ती है। किंतु एक विहंगम दृष्टि डालने से ज्ञात हो जाता है कि सिंधु-प्रदेश के निवासी महान् निर्माणकर्त्ता थे और कई दिशाओं में अन्य समकालीन सभ्यताओं से बढ़े-चढ़े थे। मोहें-जो-दड़ो नगर हड़प्पा से अधिक सुरक्षित अवस्था में पाया गया है। विशालकाय भवनों की झाँकी मिलना तो कठिन है किंतु स्तूप के ऊँचे टीले से चारों ओर दृष्टि फेरने से तुरत आभास हो जाता है, कि नगर का निर्माण विशेष व्यवस्था से किया गया था।

इन नगरों के स्थापत्य में पकाई हुई सुंदर ईंटें प्रयुक्त की गई हैं। एक ही दीवार में कई आकारों की ईंटें लगाई गई थीं। यहाँ के भवनों को तीन युगों में विभाजित किया गया है यद्यपि इनमें नौ विभिन्न युगों की सभ्यता के चिह्न प्रत्यक्ष हैं। सबसे नीचे तथा मध्य के स्तरों की ईंटें एक सी हैं, किंतु सबसे ऊपर के स्तर की ईंटें भिन्न हैं। मोहें-जो-दड़ो के भवनों में लगी कच्ची ईंटें धूप में सुखाकर पकाई जाती थीं। कई ईंटों के ऊपर कुत्ते और कौओं के पंजों के चिह्न अंकित हैं और ऐसा ज्ञात होता है कि ये ईंटें गीली अवस्था में धूप में रक्खी गई थीं। उसी समय ये पशु इन ईंटों के ऊपर चले होंगे। सभी ईंटें पुलिनमय मिट्टी की बनी हैं। अब तक प्राप्त सबसे बड़ी ईंट की नाप २०·२५″×८·५″×२·२५″ और सबसे छोटी की ९·५″×४·२५″×२″ है। किंतु अधिकतर ईंटों का आकार ११×५½′×२¾″ या ५½″×२¾″×२¾″ था। बिना पकाई ईंटों का आकार १२·९″×७·२५″×३·५″ से लेकर १८″×७·५°×३·१″ तक था। फ़र्श के लिए ९·५″×४·२५″×२″ आकार की ईंटें प्रयुक्त होती थीं। ये ईंटें किसी औज़ार या आरी से एक समान आकारों में काटी जाती थीं और यह सत्य है कि भारतीय सभ्यता के किसी अन्य युग में इतनी विशदता के साथ इस उपयुक्त नाप की ईंटें नहीं बनीं। इसका एक कारण तो यह भी था कि मोहें-जो-दड़ो निवासियों को पत्थर कम मात्रा में उपलब्ध था। व्यापारिक ध्येय के कारण लोगों ने अपने नगर के चारों ओर बिखरी बालू का समुचित प्रयोग किया।

मोहें-जो-दड़ो की ईंटों पर कोई चित्रकारी नहीं है। ईंटों की एक समान नाप और उनको सफ़ाई के साथ काटना, यहीं तक उनका कला प्रेम सीमित रहा। मृत्पात्रों पर कुम्हारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्य अंकित किये। ताबीज़ों तथा मुद्राओं पर भी उन्होंने विषयों में विविधता लाने का यथेष्ट प्रयत्न किया। किन्हीं कारणों से सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा के भवनों पर अलंकृत ईंटों का प्रयोग नहीं किया गया। समस्त खुदाइयों में केवल एक ही ईंट ऐसी निकली जिस पर चित्रलिपि सी खुदी है।

मिश्र देश में रोमन काल तक पकाई ईंटों का प्रयोग नहीं हुआ था। मेसोपोटेमिया तक में अति सीमित संख्या में पक्की ईंटों का प्रयोग हुआ है। ऐसी ईंटें स्नान या शौचगृहों में ही लगी हुई थीं। मेसोपोटेमिया की बाहरी दीवारों पर चुनी ईंटों में कोई सौंदर्य नहीं है।

मोहें-जो-दड़ो में दीवार चुनने से पहले नींव पर टूटी ईंटें जमा दी जाती थीं। यह ईंटें

अधिकतर कच्ची होती थीं। जिन दीवारों की नींवें असावधानी से पड़ी हैं वे संभवतः निर्धन व्यक्तियों के घर थे। मध्ययुग में जिन भवनों का निर्माण हुआ उनकी नींवें सबसे दृढ़ हैं। सिंधु-सभ्यता के सभी नगरों में भवनों की दीवारों पर सम्पूर्ण ईंटें लगी थीं। निर्धन व्यक्तियों के मकानों पर तक टूटी-फूटी ईंटें कम दीख पड़ती हैं।

समय-समय पर लोग पुराने मकानों की ईंटें नये मकानों के लिए निकालते रहे। कुषाण-काल में तो बौद्ध स्तूप को बनाने के लिए प्राचीन भवनों से बहुत सी ईंटें निकाली गईं। मकानों की चिनाई में गारे का स्वतन्त्र प्रयोग भी होता था। इस कारण बाद में लोगों को ईंटें निकालने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। यदि चूने या जिपशम (एक प्रकार की सीमेंट) से ईंटों की जुड़ाई होती तो उनको निकलना कठिन होता।

छोटे-छोटे भवनों की दीवारें तो सीधी खड़ी रहती थीं, किंतु बड़े मकानों की बाहरी दीवारें कुछ ढलुवाँ कर दी जाती थीं। चिनाई में खड़े या लिटाई के रूप में ईंटें लगती थीं। प्रयोग से दीवार में कुछ सुंदरता अवश्य आ जाती थी। कभी-कभी दीवारों को बहुत चौड़ा बना दिया जाता था। जिन प्राचीन दीवारों के ऊपर नई दीवारें रक्खी जाती थीं उनको भी चिनाई से पहले समतल कर दिया जाता था। गिरने की आशंका से बहुत सी ऊँची दीवारों के बाहर सहायक रूप में अलग से पतली चिनाई कर दी जाती थी। दीवारों के लगातार ऊपर चढ़ाने में प्रायः ऊपरी भाग तिरछा हो जाया करता था। इधर-उधर खुदाई में अनेक कच्ची मिट्टी के चबूतरे मिले हैं। निरंतर बाढ़ों के आतंक के कारण इनके ऊपर पक्के मकानों की नींव रख दी जाती थी। ऐसा लगता है कि इन चबूतरों को बनाने की आवश्यकता तब पड़ी जब पहली बाढ़ द्वारा बहुत से मकान बह गए थे।

अंतिम युग के भवनों की निर्माण शैली साधारण है। इनमें न तो ठीक रूप से ईंटें ही लगी हैं और न उनकी जुड़ाई ही दृढ़ता से हो पाई है। अंतिम युग की कई दीवारों की चिनाई में ईंटों के बीच रिक्त स्थान भी हैं। अब तक दृष्ट भवनों से ज्ञात होता है कि हड़प्पा के भवन मोहें-जो-दड़ो के सदृश विशाल नहीं थे। किंतु इस प्रश्न की दूसरी ओर भी हमें देखना है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि हड़प्पा गाँव के लोग वर्षों तक अपने मकानों के लिए वहाँ के खंडहरों से ईंटें निकालते रहे। इसके अतिरिक्त लाहौर-मुल्तान रेल की लाइन बनाते समय भी बहुत सी ईंटें इधर-उधर हो गईं। हड़प्पा के खंडहर केवल १९२० में सरकार द्वारा सुरक्षित हुए।

मकानों की दीवारों पर जलने के कारण पलस्तर के थोड़े ही चिह्न रह सके हैं। केवल मोहें-जो-दड़ो के दो भवनों पर जला हुआ पलस्तर दीख पड़ता है। मैके का कथन है कि दीवारों पर भी पलस्तर लगता था। पलस्तर प्रायः साधारण मिट्टी का ही होता था। एक भवन में अवश्य घास-मिट्टी मिश्रित जला हुआ पलस्तर प्राप्त हुआ था। यह भी संभव है कि कुछ मकानों पर जिपशम पलस्तर भी लगता था, क्योंकि एक कमरे की फ़र्श में खुदे गड्ढे पर जिपशम पड़ा था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसी कमरे की दीवारों पर लगाने के लिए यह जिपशम तैयार किया गया था। हड़प्पा में ईंटों के फ़र्शों तथा बारह गोल चबूतरों की चिनाई में भी जिपशम प्रयुक्त हुआ है। ऐसा अनुमान है कि अंतिम युग में राजपथ पर स्थित भवनों की बाहरी दीवारों पर हल्के नीले रंग का सीमेंट भी लगाया गया था।

जिन मकानों की दीवारें मोटी हैं वे दुमंज़िले मकानों की रही होंगी। छत समतल तथा

प्रायः पिटी मिट्टी अथवा कच्ची या पक्की ईंटों की होती थी। संपन्न व्यक्तियों के मकानों की छतों पर पकाई ईंटें लगाई जाती होंगी। ऊपरी खंड के फर्शों को थामने के लिए बड़ी कड़ियों के ऊपर छड़ियाँ, घास आदि डोरी से बाँधकर लगी थीं। मोहें-जो-दड़ो के भवनों में कड़ियों का बराबर प्रयोग हुआ है। एक कमरे में बहुत सी जली राख पड़ी मिली थी। यहाँ पर शायद कभी आग लगी होगी। जला हुआ पलस्तर जिसमें चटाई, डोरी आदि के चिह्न अंकित हैं, भूमि पर गिर पड़ा था। दीवारों पर भी कहीं-कहीं पर आग की लपट द्वारा झुलसने के चिन्ह वर्तमान हैं। हड़प्पा की खुदाई में भी जली कड़ियों के चिन्ह मिले हैं।

मोहें-जो-दड़ो के मकानों पर आम सड़कों की ओर कम दरवाज़े लगे थे। वे प्रायः गलियों की ओर ही होते थे। इन पर लकड़ी की चौखट बैठाई जाती थी। धनुषाकार मेहराबों का उस समय शायद अधिक प्रचलन नहीं था। मेहराबों के स्थान पर लकड़ी के मोटे पटाव प्रयोग में लाये जाते थे। यह बतलाना कठिन है कि दरवाज़ों की चौखटें कैसे बैठाई जाती थीं। बगल की दीवारों पर तो चौखट की कीलों को कोई फँसाने के छिद्र नहीं दीख पड़ते हैं। दरवाज़े बंद करने के लिए चिटकनियाँ लगाई जाती रही होंगी। कुछ दरवाज़े ऊँचाई में कम तथा चौड़ाई में अधिक हैं। अनुमानतः इन दरवाज़ों से पशु या चौड़े आकार की वस्तुएँ भीतर ले जाई जाती थीं। खिड़कियों के चिह्न भी दीवारों पर नहीं रह पाये हैं। शायद ये नींव से कुछ ऊँचाई पर लगाई जाती थीं। बड़े स्नानागार से लगे कमरों की दीवारों पर कुछ खिड़कियों के चिन्ह अवश्य देखने में आये हैं। अलबास्टर की एक जाली भी मोहें-जो-दड़ो में मिली है। यह किसी रोशनदान या छोटी खिड़की पर लगी रही होगी।

ताँबे की बनी एक लंबी कील, अधजली लकड़ी के साथ प्राप्त हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस कील द्वारा लकड़ी के दो भागों को जोड़ा गया था। मोहें-जो-दड़ो में एक दरवाज़े के पिछले भाग में चटखनी को थामने का एक लंबा छिद्र भी दीख पड़ा था। यह चटखनी किस धातु की थी यह बतलाना कठिन है।

ऊपरी खंडों में जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं, जिनके अवशेष कई भवनों में अभी तक दीख पड़ते हैं। सीढ़ियों की चौड़ाई औसतन १५″×५″ है जो कि आधुनिक काल की सीढ़ियों से तुलना करने पर बहुत ही छोटी लगती हैं। यह हो सकता है कि स्थाना-भाव के कारण सीढ़ियों को छोटे आकार में बनाना पड़ा हो। हड़प्पा में अभी तक केवल तीन संकुचित सीढ़ियाँ ही दीख पड़ी हैं। एक स्थान पर सीढ़ियों के दोनों ओर बनाई गई कुछ उठी दीवार पर छिद्र दीख पड़ते हैं। ऐसा अनुमान है कि इन पर लोहे की सरिया या लकड़ी की बेंट डालकर एक वेदिका स्थापित की गई थी। अभी तक बड़े आकारों की केवल दो सीढ़ियाँ मोहें-जो-दड़ो में मिली हैं। ये दोनों सीढ़ियाँ समानांतर थीं। जिन भवनों में सीढ़ियाँ थीं वे संपन्न व्यक्तियों के निवास-स्थल रहे होंगे। कुछ सीढ़ियाँ तो समूची पकाई ईंटों की बनी हैं, किंतु कुछ उदाहरणों में बाहरी ओर से तो ईंटें लगी हैं किंतु अंदर मिट्टी भर दिया गया था। जिन मकानों में सीढ़ियाँ नहीं दीख पड़ती हैं वहाँ संभवतः लकड़ी की सीढ़ियाँ लगी थीं।

अंतिम युग के मकानों में सीढ़ियों का अभाव सा है। नगरपालिका के नियंत्रण की शिथिलता के कारण उस समय मोहें-जो-दड़ो नगर में व्यवसायी लोग जहाँ तहाँ बस गये थे। उधर नगर की समृद्धि ढल रही थी और लोगों में दुमंज़िला मकान बनाने की सामर्थ्य नहीं थी।

मकानों की ऊपरी छत आजकल की तरह समतल होती थीं। इसके ऊपर से वर्षा का पानी

लंबे मिट्टी या लकड़ी के परनालों से सीधा सड़क में पहुँचा दिया जाता था। छतों की समय-समय पर मरम्मत की व्यवस्था भी रही होगी।

भोजन पकाने के लिए अँगीठियाँ या चूल्हे आँगन के बाहर ही बनते थे। लकड़ी जमा करने के लिए आँगन के एक कोने पर ऊँचा स्थान बना दिया जाता था। एक बड़े भवन के आँगन में कई चूल्हे बने थे। इनके अंदर आजकल की तरह लकड़ी जला कर ऊपर से बर्तन रख दिये जाते होंगे। कुछ कमरों में फ़र्श पर मिट्टी के घड़े रक्खे थे। इनके तल पर एक छिद्र है जिसके द्वारा गंदा पानी बाहर निकल जाता था। आँगन में ही खुले किंतु कच्चे छत से पटे एक स्थल पर गोल रोटी बनाने की भट्टी थी। ऐसी भट्टियाँ मेसोपोटामिया में भी प्रचलित थीं।

कुछ मकानों के दरवाज़ों के अंदर थोड़ा हटकर पर्दे के लिए दीवारें बनाई गई थीं। दीवारों पर बने कुछ आधार शायद दीपक रखने के लिए बनाये गये थे। सभी साधारण तथा असाधारण भवनों के अंदर अलग-अलग कुएँ थे। आकार में प्रधानतया ये सभी अंडाकार हैं। जन-साधारण के प्रयोग के लिए उचित स्थानों पर कुएँ भी बने थे। किंतु निजी घरों से पानी ले जाने की भी कोई विशेष रोक थाम नहीं जान पड़ती। कई कुओं के निकट गहरे गड्ढे खुदे हैं। पानी भरने-वालों की कुओं पर सदैव भीड़ लगी रहती होगी। इस कारण अपनी बारी आने तक गाँवों की स्त्रियाँ संभवतः इन पर घड़ों को रख दिया करती होंगी। बैठने के लिए कई कुओं के निकट तिपा-इयाँ भी बनी हैं। अनेक स्थानों पर पानी के बड़े-बड़े घड़े भी पाये गये हैं। संभवतः, इनमें यात्रियों के लिए पानी भरा रहता था। भारत में जल-दान का बहुत पुण्य माना गया है। आज दिन भी ग्रीष्म ऋतु में स्थान-स्थान पर प्याऊ खोल दिये जाते हैं। संभवतः नगरपालिका की ओर से ये घड़े इन स्थानों पर रखे गये थे।

कुएँ के मुँह पर चारों ओर से एक दीवार बना दी जाती थी। जैसे भूमि की सतह ऊँची होती गई वैसे-वैसे दीवारें भी ऊपर उठती गईं। गोलाई में मुँह पर ये कुएँ दो से सात फीट नाप के हैं। पानी निकालने के लिए रस्सी का प्रयोग होता था। निरंतर प्रयोग किये जाने से कूप के मण्डरों के पत्थर प्रायः घिसे दीख पड़ते हैं। रगड़ से घिसे जाने के कारण पहले ही से ऊपरी दीवारों को सुदृढ़ कर दिया जाता था। उद्धरण यंत्र का भी निजी कुओं में प्रयोग होता रहा होगा। कुछ कुओं के भीतर सीढ़ियाँ भी बनी थीं। अनुमान है कि सफ़ाई करते समय इनका प्रयोग किया जाता रहा होगा। दो कुएँ जान-बूझकर बंद किये जान पड़ते हैं। अनुमान है कि इन कुओं में गिरकर कुछ मनुष्यों की मृत्यु हुई होगी। आज दिन भी प्रथा है कि यदि किसी कुएँ में मनुष्य की गिरकर मृत्यु हो जाय तो उसका जल अशुद्ध समझा जाता है। कुएँ सिंधु-सभ्यता के प्रत्येक युग में चलते रहे।

हड़प्पा में मोहें-जो-दड़ो की अपेक्षा कम (कुल छः) कुएँ मिले हैं। ये कुएँ पर्याप्त फ़ासलों पर स्थित हैं और वत्स का अनुमान है कि केवल पीने मात्र के लिए ही इन कुओं से पानी लिया जाता था। अन्य कार्यों के लिए लोग नदी से पानी लेते थे।[1] यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि हड़प्पा के निकट प्रागैतिहासिक काल में एक नदी बहती थी। चन्हूदड़ो में अभी तक केवल दो कुएँ देखने में आये हैं। इनमें एक का आकार मुँह पर ३′ ६″ था।[2]

आज ५,००० वर्ष बाद भी इन कुओं की दृढ़ता को देखकर चकित हो जाना पड़ता है। जुड़ाई की ईंटें बड़ी सफ़ाई के साथ लगाई गई हैं। प्रकृति के क्रूर प्रहारों से वे असाधारणतया बच

---

[1] वत्स, ए० ह०, जि० १, पृ० १२-४ [2] मैके, च० ए०, जि० १, पृ० १७

गई हैं। अनेक कुएँ साफ कर आज दिन भी काम में लाये जा रहे हैं। सभ्यता के अंतिम चरण में नये कुएँ नहीं बनाये गये। उस समय नगर की समृद्धि समाप्त हो गई थी और लोग कुओं के खोदने या बनाने के भार को वहन करने में असमर्थ थे। इस कारण लोगों ने पुराने कुओं की ही मरम्मत कर उनसे काम चलाया।[1]

कुछ कुओं के सन्निकट नालियाँ भी बहती थीं। आधुनिक स्वास्थ्य रक्षा के नियमों की दृष्टि से इनका इतने निकट बहना आपत्तिजनक है। जब नालियाँ पानी या कीचड़ से भर जाती होंगी तो निश्चय ही निकटवर्ती कुओं का पानी गंदा हो जाता होगा। इनकी नियमित सफ़ाई का कुछ न कुछ प्रबंध तो अवश्य ही रहा होगा।

मोहें-जो-दड़ो के प्रायः सभी घरों में अलग-अलग निजी स्नानगृह बने थे। इनसे ज्ञात होता है कि जल पूजा की महत्ता के अतिरिक्त यहाँ के निवासी निजी शुद्धता पर भी विशेष ध्यान देते थे। इन स्नान घरों के फ़र्शों की ईंटें इतनी दृढ़ता के साथ लगी थीं कि इनके बीच पानी का एक भी बूँद उतरना असंभव था। लगातार पैरों के द्वारा घिसे जाने के चिन्ह भी फ़र्शों में वर्तमान हैं। इनके ऊपर कहीं कहीं पर लाल रंग भी दीख पड़ता है। यह वास्तविक या किसी भौतिक तत्त्व के ईंटों के सम्पर्क द्वारा उत्पन्न रंग था, बतलाना कठिन है। मैके तो कहते हैं कि यह रंग मालिश, तेल या पसीने के कारण उत्पन्न हुआ था। ऐसा ज्ञात होता है कि निजी घरों में ऊपरी खंड में भी स्नानगृह थे। ऐसे स्नानगृह सड़क की ही ओर अधिकतर बने थे ताकि पानी का निकास सरलता से हो सके। पानी को निकालने के लिए बड़े परनाले या नालियाँ बनी थीं। स्नानगृहों में कुछ ऐसी भी वस्तुएँ पड़ी मिली थीं जिनको संभवतः मैल आदि निकालने के काम में लाया जाता था। इनके अंदर कहीं-कहीं कोनों पर बड़े आकार के घड़े भी रक्खे मिले। अंदर से फ़र्शों के चारों ओर कुछ ऊँचाई तक ईंटें पाट दी गई थीं, ताकि मकान की दीवारों पर नमी न पहुँच सके।

मोहें-जो-दड़ो के निवासियों ने निजी घरों में शौचगृह भी बनवाये थे। कभी कभी तो ये स्नानगृहों के बगल ही में बना दिये गये हैं। हाथ-पैर धोने के लिए जो ढलुवाँ फ़र्श थे वे भी दृढ़ हैं। एक गोलाकार चबूतरा भी मोहें-जो-दड़ो में मिला है। मैके कहते हैं कि इसके ऊपर कपड़े धोये जाते थे। स्मरण रहे कि इस शैली के हाथ-पैर धोने के फ़र्श मेसोपोटामिया के किसी भी युग में नहीं बने। वहाँ प्रत्येक मन्दिर के आँगन में एक-एक कुआँ तो अवश्य था किंतु मोहें-जो-दड़ो की तरह कोई हाथ धोने के फर्श मेसोपोटामियाँ में नहीं मिले।

कुछ शौचगृह आजकल ही की तरह ऊपरी खंड में भी बने थे। खुले मैदान में जाने की प्रथा भी उस काल में रही होगी।

बौद्ध स्तूप से लगभग ६००' की दूरी पर एक बड़ा स्नानगृह है। यह मध्य में ३९' लंबा, २३' चौड़ा तथा ८' गहरा है। इसके चारों ओर कई प्रकोष्ठ तथा दरीचियाँ बनी हैं। दक्षिण की ओर एक लंबा प्रकोष्ठ है जिसके दोनों कोनों पर दो छोटे-छोटे कमरे बने हैं। पूर्व की ओर भी छोटे कमरों की एक पंक्ति है। उत्तर की ओर बड़े बड़े आकार के कमरे थे। इस स्नानागार की दीवारें बड़ी दृढ़ हैं। दीवार के दोनों ओर पक्की ईंटें लगाई गई थीं। बीच में कच्ची ईंटें ही डाल दी गई थीं। तालाब पर ईंटें सुंदरता के साथ लगाई गई हैं। इनको जोड़ने से पहले किसी औज़ार से भली-भाँति काट दिया गया था। कुछ दीवारें ४' ५½' तक मोटी हैं। तालाब की बाहरी दीवार पर बिटूमन (गिरिपुष्पक) की एक परत लगी है। इस पदार्थ का प्रयोग मोहें-जो-दड़ो

[1] मैके, फ॰ ए॰ इ॰, जि १, पृ॰ १६७

में तो अति सीमित रूप में हुआ है, किंतु सुमेर तथा बेबीलोन में बिटूमन साधारण पलस्तर की तरह प्रयोग होता था। बिटूमन का प्राप्ति-स्थान सिंधु नदी के किनारे स्थित ईसा खेल, यारी और सनाई पहाड़ियों (बलूचिस्तान) तथा हित में है। इन्हीं स्थानों से मोहें-जो-दड़ो में बिटूमन आया करता होगा। बिटूमन एक मूल्यवान तथा कठिनाई से प्राप्त होनेवाला जुड़ाई का पदार्थ है और स्नानागार की दीवारों पर इसके प्रयुक्त होने से ज्ञात होता है कि उसका बहुत बड़ा महत्व था। स्नानागार की भीतरी दीवारों पर ईंट के बारीक चूर्ण तथा मिट्टी का मिश्रित पलस्तर लगाया गया था।[1] यह अनुमान है कि यह स्नानागार किसी मन्दिर (जो कि बौद्ध स्तूप के नीचे दबा पड़ा है) से संबंधित था। पूजा प्रारंभ करने से पहले संभव है इस स्नानागार के जल से लोग अपने को शुद्ध कर लिया करते रहे होंगे।

स्नानागार का फर्श दक्षिण पश्चिम की ओर कुछ ढलुवाँ बना दिया गया है। इसी दिशा में १' १' चौड़ी तथा ६⅜' गहरी मोरी है। इस मोरी से आवश्यकतानुसार तालाब का जल बाहर निकाला जाता होगा। अधिकारियों द्वारा निरीक्षण के लिए पश्चिम की ओर एक चौड़ा छिद्र भी बना था। स्नानागार के भीतर प्रवेश करने के लिए सीढ़ियाँ थीं। प्रत्येक सीढ़ी के ऊपर लकड़ी की पट्टक बैठाई गई थी। सीढ़ी के समाप्त होते ही नीचे ३६' तथा १६' ऊँची पीठिका बनी थी। खुदाई करते समय स्नानागार क्षेत्र से कुछ राख भी मिली है। संभवतः स्नानागार के पास ही कुछ दुमंजिले कमरे भी थे। उन्हीं की छत की लकड़ी जल जाने पर यह राख इस स्थान में पड़ी होगी। स्नानागार में प्रवेश करने के लिए छः द्वार बने थे।

स्नानागार की दक्षिण-पश्चिम दिशा में पक्की ईंटों की कुछ वेदियाँ दीख पड़ती हैं। इनके निकट राख तथा जला कोयला भी मिला है। कुछ भवनों से पता चलता है कि वे हम्माम के रूप में प्रयोग होते थे। इनमें स्थान-स्थान पर नल लगे हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इनमें गर्म जल भरा रहता था। हम्माम के अतिरिक्त संभवतः नलों के द्वारा शीतकाल में कमरों को भी गरम किया जाता था। चन्हूदड़ो के लोग भी संभवतः हम्मामों से परिचित थे।[2]

मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो में पानी के निकास के लिए नालियाँ बनाई गई थीं। इसमें संदेह नहीं कि नालियों की इतनी सुंदर व्यवस्था किसी अन्य तत्कालीन सभ्य देश में नहीं थी। मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा सदृश्य विशाल नगर, जहाँ सैकड़ों लोगों का निवास तथा आवागमन होता था, में यह आवश्यक था कि नगरों की शुद्धता के सभी साधन प्रयोग में लाये जाते। सभी प्रमुख मार्गों तथा गलियों के दोनों ओर ईंटों की सुंदर पक्की नालियाँ बनाई गई थीं। अधिकतर नालियाँ पच्चीस फीट गहरी तथा नौ इञ्च चौड़ी हैं। मकानों पर जुड़े परनाले भी इन नालियों में मिल जाते थे। प्रधान सड़क की नाली में इधर उधर की नालियों से पानी जमा होकर बह जाया करता था। अच्छी नालियों की जुड़ाई में जिपशम तथा चूने का मिश्रित पलस्तर लगाया गया था। कहीं कहीं पर मिट्टी का पलस्तर भी दीख पड़ता है। मध्य युग की एक नाली पर चूने के पलस्तर के चिह्न मिले हैं। चूना जिपशम से अधिक मूल्यवान् होता है, फिर भी न जाने लोगों ने इस नाली में चूने का क्यों प्रयोग किया।

सभी नालियाँ ऊपर से ईंटों या पत्थरों से ढक दी जाती थीं। चौड़ी नालियों पर बड़े आकार के पत्थर या ईंटे रख दी गई थीं। नालियों में कहीं-कहीं दंतक मेहराब भी थे। कूड़ा इकट्ठा करने के लिए कई स्थानों पर गड्ढे बने थे। ये गड्ढे काफी गहरे हैं और

[1] ए० रि० आ० स० इं०, १९२५-६, पृ० ७७ [2] मैके, च० द०, पृ० ४२

इनके अंदर जाने के लिए सीढ़ियाँ भी बनी थीं। कभी-कभी निजी घरों के परनालों का पानी बड़ी नाली में न जाकर मकान के बाहर स्थित नाबदानों में ही गिरता था। ये नाबदान तले पर छिद्र किए हुए घड़ों की तरह होते थे। कुछ स्थानों पर घड़े चारों ओर से ईंटों के द्वारा कस दिए गए हैं। धनी लोगों के मकानों के बाहर केवल पक्की ईंटों के नाबदान बनते थे। सड़क की नालियों के किनारे जगह-जगह पर बालू के ढेर मिले हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि नालियों की नियमित रूप से सफ़ाई होती थी। रेत को उठाने की शायद कोई व्यवस्था नहीं थी। जिस स्थान पर ऊँचाई से नल, परनाले या नालियाँ गिरती थीं वहाँ पर ईंट का गड्ढा बना दिया जाता था ताकि पानी भूमि को न काट सके। इस प्रकार की नियमित सफ़ाई से इन नालियों से पानी के बहाव में कोई रुकावट नहीं पड़ती थी।

सिंध-सभ्यता के लोग मिट्टी के नलों का भी प्रयोग करते थे। इनके द्वारा मकानों का पानी बाहर निकाला जाता था। लंबी नालियों के बीच में सोक पिट (गड्ढे) बना दिये गये थे जिससे कि पानी निकलने में रुकावट न पड़े। लंबे डण्डों से भी नालियों को साफ़ न करने की योजना रही होगी।

कहीं-कहीं पर गलियों की ओर से बहनेवाली नालियों का गँदला पानी सीधे एक बड़े गड्ढे में जमा हो जाया करता था; इसमें पानी सूख जाता था। कीचड़ तथा ठोस वस्तुओं को बाद में जमादार उठा लेते थे। निर्धन लोगों की बस्ती में पानी बड़े आकार के घड़ों में जमा होकर तल के छिद्र द्वारा भूमि में समा जाता था।

निजी मकानों के अंदर नालियाँ कम बनी थीं। संभवतः उस काल के भवनों में भोजन तथा स्नानगृह अधिकतर सड़कों की ओर बनते थे। इनसे निकला पानी सीधे सतह में पहुँच जाता था। ऊपरी खंड से पानी निकालते समय इस बात का अवश्य ध्यान रक्खा जाता था कि मार्ग में आने-जानेवाले लोगों पर छींटे न पड़ सकें। जहाँ पर मिट्टी के परनाले या नालियाँ टूट जाती थीं उनकी मरम्मत के लिए जिपशम का पलस्तर लगता था। कुछ उदाहरणों में स्नानागार, शौचादिगृह से पानी निकालने के लिए नालियाँ दीवारों में ही जोड़ दी गई थीं।

जैसे जैसे भूमि की सतह उठती गई इन नालियों को भी ऊँचा करने की आवश्यकता पड़ी। किंतु यह योजना थोड़े ही दिन तक चल पाई। जब नालियाँ बहुत गहरी हो जाती तो उन पर भरान करके फिर ऊपर नई नालियाँ बनाई जाती थीं। कई स्थानों में तो पुरानी ईंटें ही उठाकर नई नालियों में लगा दी गई थीं। अंतिम चरण में नालियों की देख-भाल के लिए कोई रक्षक नियुक्त नहीं था। उस समय लोग मनमाने ढंग से नालियों को बना रहे थे।

मोहें-जो-दड़ो निवासी नगर-निर्माण-प्रणाली से पूर्णतया परिचित थे, यह वहाँ के भग्नावशेषों से स्पष्ट है। उचित स्थान प्राप्त होने पर संभवतः स्थापत्य-विशारद नगर की रूपरेखा (ले आऊट) बना लेता था। इसमें यह स्पष्ट कर दिया जाता रहा होगा कि किस ढंग के मकान कहाँ पर बन सकेंगे। इसके अतिरिक्त सड़कें बिछाने की समस्या भी पहले ही हल कर दी जाती रही होगी। सड़कें उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम की ओर दौड़ती थीं। इस योजना द्वारा अनुमानत ८००'×१२००' के खंड (मुहल्ले) स्वयं बन जाते थे। खँडहरों में से छः या सात ब्लाक स्पष्ट रूप में पहिचाने जा सकते हैं।[१] सड़कें एक दूसरे को समकोणों पर काटती हैं। ये बिल्कुल सीधी हैं। उत्तर से दक्षिण को भागती एक सड़क को राजपथ नाम दिया गया है। यह लगभग

[१] पिगट, प्री० ई०, पृ० १६६

पौन मील तक साफ कर दी गई है। कहीं-कहीं पर यह राजपथ ३३' चौड़ा है। गलियाँ भी ३' से ७' तक चौड़ी होती थीं। इन सड़कों की वायु निस्संदेह शुद्ध रही होगी, क्योंकि हवा का एक तीव्र झोंका, एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचकर गंदी हवा को दूर कर देता रहा होगा। एक अन्य महत्त्वपूर्ण सड़क वह है जो दक्षिण को जाती हुई स्तूप-भाग को बाँटती है। इन पथों पर रथ, गाड़ियाँ तथा पैदल मनुष्य अच्छी तरह चल सकते थे। खेद है कि हड़प्पा की सड़कों की रूपरेखा बिल्कुल मिट गई है। मोहें-जो-दड़ो की किसी भी सड़क पर ईंट नहीं बिछी है। वर्षा के दिनों में कैसे लोग पानी-मिट्टी से भरे इन रास्तों का प्रयोग करते थे, यह ज्ञात नहीं है। एक सड़क के कुछ भागों में खंडित मृत्पात्र तथा ईंट की गिट्टक डाल दी गई थी। शायद नगरपतियों ने गिट्टक को बिछाकर यह देखने का प्रयत्न किया हो कि उसका क्या मूल्य बैठता है तथा जनता उस प्रयोग को कैसा पसंद करती है। यह प्रयोग किन्हीं कारणों से असफल ही जान पड़ता है। वर्षा ऋतु में इन सड़कों को कैसे सँभाला जाता था, यह बतलाना कठिन है। ग्रीष्म ऋतु में पानी के छिड़काव से धूल बैठाने की कोई व्यवस्था अवश्य रही होगी।

मध्य युग की एक सड़क के दोनों ओर लम्बे तथा कुछ ऊँचे चबूतरे बने हैं। इन पर लोग रात्रि को सोते थे। यह भी संभव है कि इन पर कभी-कभी हाट लगाई जाती थी। इन चबूतरों पर बैठनेवाले दूकानदार क्रय की वस्तुओं को रात्रि में समेटकर फिर घर ले जाते रहे होंगे।

छोटी सड़कों के मोड़ पर स्थित मकानों के कोने घिस गये हैं। संभवतः ये कोने बोझा ढोनेवाले पशुओं या मनुष्यों की टक्कर से ही घिस गये हों। इसी आशंका से बहुत से मकानों की दीवारें पहिले ही से गोल कर दी गई थीं। प्राचीन उर में भी सड़कों के किनारों पर स्थित मकानों की दीवारों पर ऐसी ही रगड़ तथा गोलाई दीख पड़ती है।

एक प्रधान सड़क का अंतिम भाग द्वितीय युग में न जाने क्यों बंद कर दिया गया था। यहाँ पर एक चबूतरा था जिसमें पाँच गड्ढों की दो समानांतर पंक्तियाँ थीं। इन गड्ढों के अंदर अनुमानतः स्तंभ टिके रहे होंगे। मैके का अनुमान है कि इस स्थान पर नगरपालिका का चुंगीघर स्थित था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राज्य के विभिन्न करों की व्याख्या की है। उसने लिखा है कि बिक्री का माल सबसे पहिले नगर के प्रमुख द्वारवाले चुंगीघर पर रोका जाकर नीलाम होता था। जब माल बिक जाता था तभी उसकी चुंगी जमा होती थी। मोहें-जो-दड़ो में भी संभवतः ऐसी ही कोई प्रणाली रही हो।

सड़कों के किनारे स्थान-स्थान पर कूड़ेखाने बने थे। निजी घरों में भी लोग आजकल की तरह कूड़ेखाने रखते थे। हड़प्पा के कूड़ेखाने तो जमीन को खोदकर बने थे। इनकी सतहमात्र पर केवल ईंटें बिछी हैं। नौकर लोग घरों में झाड़ बुहार कर कूड़े को इकट्ठा कर इन्हीं गड्ढों में डाल दिया करते थे। संभवतः मोहें-जो-दड़ो नगर में कूड़े को दूर फेंकने की कोई व्यापक व्यवस्था नहीं थी।

मोहें-जो-दड़ो में सात ऐसी भव्य इमारतें निकली हैं, जिनका संबंध केंद्रीय शासन से रहा होगा। सबसे महत्त्वपूर्ण भवन तो स्तूप के नीचे दबा पड़ा है। यहाँ पर लगभग २०' ऊँची कच्ची ईंटों की पीठिका पर कोई असाधारण भवन खड़ा किया गया था। इसके पश्चिम में एक क़िला भी स्थित था। बाढ़ से बचाने के लिए किले की दीवार के नीचे एक बाँध सा बना दिया गया था। इसके ऊपर कच्ची ईंटों की तह पर ४०' चौड़ी दीवार थी खड़ी की गई थी। मौसमी पानी से बचाने

के लिए इसके बाहरी ओर पक्की ईंटों की चिनाई कर दी गई थी। बीच में समचतुरस्र मीनारें भी खड़ी हैं। क़िले के कोनों पर बनी दीवारें बड़ी दृढ़ है।

स्तूप के निकट ही २३०'×७८' लंबा तथा चौड़ा एक विशाल भवन था। इसकी बाहरी दीवारें ६'६" मोटी तक हैं। संभवतः यह भवन कई बरामदों तथा प्रकोष्ठों का बना था। उत्तर की ओर कई स्नानागार भी हैं। प्रवेश द्वार के बाद ही स्वागत करने का एक बड़ा कमरा था। इस भवन में नगर का प्रधान महंत या साधु समुदाय का कोई प्रतिनिधि रहा करता होगा। इसमें रहने के कमरे तो दक्षिण की ओर थे। अन्य आवश्यकताओं के लिए भी उचित स्थानों पर कमरे बना दिये गये थे। भीतर की ओर एक बड़ा आँगन था। इसमें संभव है प्रधान को भेंट की गई वस्तुओं को इकट्ठा किया जाता था। विचित्र शैली का यह भवन निस्संदेह किसी सामूहिक कार्य के लिए प्रयोग किया जाता रहा होगा। इस भवन में बाद को आनेवाले लोगों ने आवश्यकतानुसार कई परिवर्त्तन कर दिये थे। आश्चर्य है कि इसके निकट जल का कोई भी कुआँ नहीं निकला है।

एक महत्त्वपूर्ण भवन को राजमहल माना गया है। यह २३०' लम्बा तथा ११५' चौड़ा भवन है। कहीं-कहीं पर इसकी दीवारें ५' चौड़ी तक हैं। इसमें दो अलग-अलग आँगनों के साथ गुदामघर तथा नौकरों के कमरे बने हैं। खुदाई करने पर इसकी कई तहें निकली हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि यह भवन सैकड़ों वर्षों तक प्रयोग में आता रहा। संभव है इसमें नगर के राज्यपाल रहा करते हों।[1]

स्नानागार के निकट मध्ययुग का ४०' लम्बा एक स्तंभाधार सभाभवन था। इसमें समय समय पर लोगों ने बहुत से परिवर्तन कर दिये थे, किंतु ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि यह ८०' लंबा तथा इतना ही चौड़ा भवन था। इसकी छत ईंट के बीस समचतुरस्र स्तंभों पर टिकी थी। प्रत्येक पंक्ति में चार या पाँच स्तंभ के बीच बेंचें आदि पड़ी रहा करती होंगी। मैके का अनुमान है कि यहाँ पर कभी-कभी सामूहिक बाज़ार लगता था किंतु दीक्षित की धारणा है कि इस अलौकिक भवन में धार्मिक वाद-विवाद हुआ करते थे। मार्शल का विचार था कि बौद्ध गुफाओं के अंदर बने बड़े कमरों की शैली पर ही यह भवन भी बनाया गया था। बीच में प्रधान के लिए संभवतः एक चौकी थी; अन्य लोग अस्थायी वस्तुओं की बनी चौकियों या चटाइयों पर ही बैठते रहे होंगे। ई० पू० तीसरी सदी में पाटलिपुत्र में भी मौर्य सम्राटों ने एक सौ स्तंभों पर टिका विशाल भवन स्थापित किया था। कतिपय विद्वानों की धारणा है कि स्तंभोंवाले भवनों की परंपरा हमारे देश में फ़ारस से आई। मोहें-जो-दड़ो की खुदाई में निकले हुए उदाहरणों से इस धारणा का खंडन हो गया है। यह बतलाना कठिन है कि मोहें-जो-दड़ो के लोग गोल या अन्य रूपों के स्तंभों का प्रयोग करते थे। कुछ कमरों में गोल स्तंभों के चिह्न से दीख पड़ते हैं, किंतु अनुमान है कि अधिकतर स्तंभ चौकोर ही होते थे। यह अवश्य कुछ विचित्र सा लगता है क्योंकि तत्कालीन देशों, जैसे सुमेर आदि में सर्वत्र गोल स्तंभ भवनों में लगाये गये हैं। पत्थर के कुछ गोल छल्लों पर लकड़ी के खंभे भी बैठाए गए थे।

एक अन्य भवन के पूर्वी भाग में ५२' लंबी १२ समानांतर दीवारें हैं। इसकी बनावट से पता लगता है कि यह एक अन्न-भंडार था। अनुमान किया जाता है कि प्राचीन काल में मोहें-जो-दड़ो की सरकार को नगर निवासी अन्न के रूप में ही 'कर' देते थे। यह अन्न संभव है ऐसे

[1] मैके, अ० ई० सि०, पृ० ४७

ही भवनों में एकत्रित किया जाता था। ऋग्वेद में यही कर 'बालि' नाम से मिलता है। प्राचीनकाल में राजा को कर के रूप में उपज का $\frac{1}{6}$ भाग भेंट होता था।

हड़प्पा में भी एक बड़े अन्न-भंडार के चिह्न प्राप्त हुए हैं। इसका आकार उत्तर से दक्षिण १६९" तथा पूर्व से पश्चिम १३५' था। भंडार १५०' चौड़े तथा लगभग २००' लंबे प्लेटफार्म पर स्थित था। ऊँची पीठिकाओं के द्वारा यह भवन फिर दो भागों में विभाजित कर दिया गया था। भवन की दीवारें दृढ़ तथा कहीं कहीं पर ९' चौड़ी तक हैं। दो लंबी पंक्तियों में छः हाल एक दूसरे के सामने बने हैं। इन कमरों को फिर छोटी-छोटी दीवारों द्वारा बाँट दिया गया है। छोटी दीवारों के ऊपर कड़ियाँ बिछाकर फिर फ़र्श बैठाया जाता था। इसी के ऊपर संभवतः अन्न इकट्ठा होता था। इन भवनों में अनाज रखने के घड़े भी प्राप्त हुए थे। भंडार से कुछ दूर हटकर श्रमिकों के लिए मकान बने थे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक या दो कमरे दो पंक्तियों में निर्धारित थे। खुदाई में केवल चौदह कमरे निकले हैं, किंतु इसमें संदेह नहीं कि इस स्थान पर कई और कमरे प्रस्तुत थे। निकट ही अनेक गोल ईंटों के चबूतरे या फ़र्श भी मिले हैं। इनका आकार लगभग १०" है। इनके मध्य में पहिले लकड़ी खुँची थी जिस पर कि अनाज डालकर कूटा जाता रहा होगा। कई चबूतरों के अंदर गेहूँ तथा जौ के अवशेष पाये गये हैं। अनाज कूटकर बाद में निकटवर्ती अन्न भंडार में पहुँचा दिया जाता होगा। इसी क्षेत्र में कुछ लोहारों के भट्टे भी मिले हैं।

सड़कों के मिलान या कोनों पर दृढ़ फ़र्शवाले गड्ढे भी कहीं कहीं बने थे। इन गड्ढों पर घड़े रक्खे जाते होंगे। इन स्थानों पर शायद भोजनालय स्थित थे। इन घड़ों पर या तो जल या मदिरा भरी रहती होगी। मोहेंं-जो-दड़ो नगर की दो प्रमुख सड़कों के जोड़ पर एक विशेष आकार की इमारत स्थित थी। इसके ऊपरी भाग में चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं। इसके निकट ही एक भोजन-गृह भी स्थित था। इसमें संदेह नहीं कि इस स्थान पर नगर-पालिका की ओर से स्थापित भोजनालय था।

प्रत्येक घर में एक-एक आँगन था, जिसका प्रवेश द्वार गली की ओर से था। आँगन के एक कोने पर भोजनालय बना होता था। दो खंडों के मकानों पर कभी-कभी पृथक् परिवारों के लोग रहा करते थे। इस कारण ऐसे मकानों में सीढ़ियाँ बाहर की ओर से बनाई जाती थीं। कुटुम्बों की जन-संख्या की बढ़ती के साथ-साथ घरों का विभाजन भी होता गया। स्थान की कमी के कारण मकानों के सामने उद्यानों का बनना संभव नहीं था। घरों को बनाते समय इस बात का अवश्य ध्यान रक्खा जाता था कि वे सड़कों को बाधा न पहुँचाएँ। कुछ बड़े आकार के कमरों को बाद में कई भागों में बाँट दिया गया था। विभाजन की दीवार बड़े कमरे की दीवार से अलग हटकर ही बनाई जाती थी जिससे कि उन्हें फिर से तोड़ते समय आसानी रहे।

एक स्थान पर सोलह मकान खोदे गये हैं। इन सबका प्रवेश, प्रधान सड़क की ओर से था। प्रत्येक मकान में एक कमरा सामने तथा दो पीछे की ओर बने थे। अंदर के कमरों में हाथ मुँह धोने के लिए भी एक विशेष स्थान बना था। ये मकान संभवतः दूकानें थीं।[1] एक दूसरी प्रधान सड़क, जो नगर के उत्तर-पश्चिम की ओर जाती है के दोनों ओर बड़े बड़े भवन हैं। इन भवनों की दीवारें बड़ी दृढ़ हैं। संभवतः इनमें बाहर से आनेवाले पशु टिकाए जाते थे। यह भी हो सकता है कि इनके अंदर भारी सामान रक्खा जाता था। कुछ छोटे छोटे मकानों में दरवाज़े

[1] ए० रि० आ० स० इं०, १९२६-७, पृ० ७७-८

या खिड़कियाँ नहीं हैं। ये शायद तहखाने थे। इनके भीतर जाने के लिए लकड़ी की सीढ़ी प्रयोग में लाई जाती होगी। मकानों के अंदर की दीवारों को कहीं-कहीं खाली देखकर अनुमान होता है कि वहाँ पर आलमारियाँ बैठादी गईं थीं। आलों के सदृश्य छिद्र भी दीख पड़ते हैं।

दो अलग-अलग कुटुम्बों के घरों के बीच एक फुट के लगभग स्थान छोड़ दिया जाता था। यह युक्ति शायद आपसी झगड़ों से बचने के लिए की गई थी। बीच का रिक्त स्थान दोनों ओर से बंद रहता था। ऐसा प्रतीत होता है कि मोहें-जो-दड़ो नगर में रात्रि के लिए पहरेदार नियुक्त थे। इनके लिए सड़कों के कोनों पर कोठरियाँ बनी थीं, जिनका प्रवेश द्वार मुख्य मार्ग की ओर से था। मैके का अनुमान है कि मोहें-जो-दड़ो नगर रक्षा के लिए कई भागों में विभाजित था। सड़कों पर कहीं कहीं छोटी दीवारें भी बना दी गई हैं। इन दीवारों से ही अलग-अलग क्षेत्रों की सीमा निर्धारित की जाती होगी। यहाँ पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक होगा कि सुचारु शासन के लिए मौर्य काल में कई नगरों को चार भागों में बाँट दिया गया था।

निर्धन वर्ग के लोग नगर की सीमा के बाहर मकानों को बनाते थे। चन्हूदड़ो की खुदाइयों से पता लगा है कि वहाँ नगर के बाहर कुछ झोंपड़ियाँ बनी थीं। इनके चिह्न स्वरूप उन स्थानों में अब केवल फ़र्श तथा अँगीठियाँ ही दीख पड़ती हैं। हड़प्पा के दक्षिण-पश्चिम भाग में भी बाँस तथा लकड़ी के छड़ों की जली राख पाई गई थी। यहाँ पर भी बाद के युगों में बनी कुछ झोंपड़ियाँ स्थित थीं। कुछ मकानों की दीवारों के तले पर तो पक्की ईटें लगी थीं। ऊपरी भाग में केवल सादी मिट्टी की दीवार ही रहती थीं। पतली दीवारें तो ऊपर तक समूची केवल मिट्टी की बनी हैं। सिंधु प्रदेश के दक्षिण में स्थित कुछ स्थानों के मकानों की नीवों पर पत्थर भी लगा था। सुकटाजेन डोर में दीवारों पर ५' तक केवल पत्थर की चिनाई है। इनके ऊपर कच्ची मिट्टी की दीवार चुनी रही होंगी।

सबसे छोटे मकान ३०'×२७' नाप के थे। इनमें चार या पाँच ही कमरे होते थे। बड़े कमरों का आकार इनसे दुगुना होता था। कभी बड़े मकानों में छोटे तीस कमरे तक होते थे।

नगर के किस क्षेत्र में कौन सी आजीविका के लोग बसते थे यह बतलाना कठिन है। मोहें-जो-दड़ो नगर की स्थापना के समय संभवतः लोगों को यह ज्ञात नहीं था कि वहाँ पर कभी एक प्रसिद्ध व्यापारिक नगर खड़ा हो उठेगा। खुदाई में नगर के एक छोर पर बहुत से खंडित भट्ठे तथा मृत्पात्र मिले हैं। यहाँ पर संभवतः कुम्हारों की बस्ती थी। किंतु यह मुहल्ला तभी बसा होगा जब नगर के निर्माण-नियंत्रण में ढिलाई हो गई थी। नगर के बाहर श्रमिकों के लिए भी मकान बने थे, जिनका उल्लेख पहिले किया जा चुका है।

सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा के सभी भवन अलंकरण-रहित थे। उनको सजाने के लिए कौन-कौन से उपादान प्रयुक्त होते थे यह ज्ञात नहीं है। साधारण ईटों के बने मकानों की एकरूपता अवश्य खटकती रही होगी। यह संभव है कि मकानों के खंभों, वेदिकाओं तथा दरवाज़ों पर कुछ अलंकरण कर दिया जाता था। सुंदर तथा सुलभ आकारों में कटी ईटों तक ही सुंदरता की साध सीमित थी।[१] इन सभी बातों को देखने से पता लगता है कि सिंधु-सभ्यता में उपादेयता की ओर लोग अधिक ध्यान दिया करते थे।

---

[१] दीक्षित, प्री० सि० ई० वे०, पृ० १६

'मानसार' ग्रंथ से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में स्थापत्य शास्त्र को कितनी महत्ता प्राप्त हुई थी। 'स्थपति' की योग्यता का उल्लेख करते हुए यह लिखा गया है कि उसे बौद्धिक तथा सांस्कृतिक ज्ञान का पंडित होना चाहिए। प्राचीन काल में नगरों के स्थापन से पहिले दिशा तथा मिट्टी की भी परीक्षा कर ली जाती थी। ऐतिहासिक युग में भारत में विशाल निर्माण-कार्य हुआ। किंतु इस निर्माण में सर्वत्र अलंकरण की प्रधानता है। सिंधु-सभ्यता के लोगों का दृष्टिकोण इस दिशा में कुछ भिन्न था।

मोहें-जो-दड़ो, हड़प्पा तथा चन्हूदड़ो के स्थापत्य में पत्थर का बहुत कम प्रयोग किया गया है। पत्थर केवल विशेष इमारतों में ही प्रयुक्त होता था। श्वेत या पीले रंग का पत्थर सिंधु नदी के तट पर स्थित सक्खर तथा संगमरमर और खड़िया पत्थर खिरथर पहाड़ी से संभवतः प्राप्त होता था। अलबास्टर, नमक की पहाड़ियों, गुड़गावँ तथा कांगड़ा प्रदेश से मँगाया जाता रहा होगा।

मोहें-जो-दड़ो नगर की नगर-प्रणाली वास्तव में बड़ी सुसंगठित तथा विशद थी। ऐसी उत्तम प्रणाली संसार के थोड़े से ही अन्य देशों में दीख पड़ती है। प्रथम से लेकर द्वितीय चरण तक इसके स्थापत्य तथा नागरिक व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं दीख पड़ता। इसमें व्यक्तित्व के उठान का अभाव है।[1] अंतिम चरण में मोहें-जो-दड़ो का स्थापत्य गिरता दीख पड़ता है। उस समय नगरपालिका के अधिकारी या तो थे ही नहीं या वे बहुत सीमित मात्रा में रह गये थे। लोग नगरपालिका के नियमों का मनमाने रूप से उल्लंघन करते जान पड़ते हैं। इस युग में नये मकानों की दीवारों ने सड़कों के कई भागों को दबा दिया है। मकान कभी सड़क से दूर हटकर तथा कभी ठीक सड़क के ऊपर खड़े कर दिए गए है। मकानों तथा आँगनों का विभाजन भी अधिकायत से हो रहा था। यत्र-तत्र सड़कों के ऊपर कुम्हारों ने भट्टे भी बना डाले थे। दुमंज़िले मकान बनाने की सामर्थ्य अब लोगों में नहीं थी। इस अव्यवस्थित शासन के फलस्वरूप सम्पूर्ण नगर की सुषमा बिगड़ गई थी।

सिंधु नदी तथा बलूचिस्तान की सीमा पर मजूमदार को अली मुराद, कोहत्रास सु-कटाजेन दोर तथा थारो नामक स्थान में क़िले-बन्दी के चिह्न प्राप्त हुए हैं। इन क़िलों की दीवार भारी-पत्थरों की बनी थी और ऐसा ज्ञात होता है कि कबीलों के धावों की आशंका से लोगों को क़िले-बंदी करनी पड़ी थी। इनके अंदर स्थित मकानों की नींव में तो पत्थर की जुड़ाई होती थी। ऊपरी भाग सादी मिट्टी या लकड़ी का होता था। सुकटाजेन दोर में १२५'×१७०' के क्षेत्र में क़िलेबंदी की गई थी। इस दीवार की चौड़ाई ३०' थी और इसके द्वार चौड़े थे। धावों की आशंका बलूचिस्तान के दक्षिणी पर्वतों से ही अधिकतर रही होगी। रंगपुंडई, नाल तथा डाबरकोट नामक स्थानों में लूट-पाट के कई चिन्ह मिले हैं। जान पड़ता है कि चन्हूदड़ो झूकर तथा लोहमू-जो-दड़ो में लूटेरे स्वयं बस गये थे। मोहें-जो-दड़ो के अंतिम चरण में बने मकानों के फ़र्शों के नीचे आभूषणों के कई ढेर मिले हैं। इससे भी धावे का अनुमान है। सिंधु-सभ्यता का अस्त ई० पू० २००० तथा १५०० के बीच हुआ होगा

[1] ह्वीलर, का० थ० आ० पा०, पृ० २८

नवम अध्याय

अन्य देशों के साथ संबंध

सिंधु-सभ्यता की संक्षिप्त झाँकी पाठकों को पिछले अध्यायों के वर्णन से मिल चुकी होगी। वस्तुओं का विवेचन करते हुए हमने यत्र-तत्र इस सभ्यता की तुलना इसके ही समकालीन देशों से की है। महान् सभ्यताएँ एक ही देश तक कभी सीमित नहीं रहतीं। प्रत्येक सभ्यता का निजी व्यक्तित्व तथा विशिष्ट देन होती है। अफ्रेशियन कटि के अंतर्गत ही सिंधु-सभ्यता आती है। इस कटि में व्याप्त सभी सभ्यताएँ नदियों के तट पर फली-फूली थीं।

सभी प्रस्तर ताम्रयुगीन देशों में सांस्कृतिक समानताएँ थीं। चीनी मिट्टी, सीपी, घोंघा, चाँदी, सोना तथा टीन के प्रयोग से पूर्वी देशों के लोग भली-भाँति परिचित थे। खेती तथा पशु-पालन भी साथ-साथ चलता था। कुम्हार की कला तथा कताई-बुनाई भी इन देशों में थी। किंतु इन समानताओं के होते हुए भी प्रत्येक सभ्यता ने अपने व्यक्तित्व में विशेषता लाने का प्रयत्न किया। सिंधु प्रदेश में कपास की खेती तथा कताई-बुनाई होती थी। किंतु मिश्र तथा बेबीलोन के लोग अतसी का ही प्रयोग करते थे। मृत्पात्रों पर भी विभिन्न देशों ने अपनी धार्मिक विचार-धारा एवं कलात्मक प्रवृत्तियों के अनुसार चित्रण किया। मोहें-जो-दड़ो के मृत्पात्रों पर मानव आकृति का कोई चित्रण नहीं है, किंतु समकालीन सुमेर में प्राप्त मृत्पात्रों पर मानव की आकृति दीख पड़ती है। चित्रलिपि का सभी देशों में प्रचलन था, किंतु आवश्यकतानुसार सभी देशों ने थोड़ा बहुत परिवर्तन अपनी लिपि में कर लिया था। मोहें-जो-दड़ो में निजी तथा सार्वजनिक मकानों का स्थापत्य मिश्र तथा मेसोपोटामिया के स्थापत्य से कहीं उच्चतर है। मोहें-जो-दड़ो जैसी सड़कों तथा नालियों को स्वच्छ करने की सुव्यवस्था मेसोपोटामिया तथा मिश्र देशों में उपलब्ध नहीं थी। इसके अतिरिक्त जब संसार के अनेक देशों के लिए कपास का बुना कपड़ा स्वप्न के समान था, उस समय सिंधु प्रदेश निवासी सूती कपड़े का प्रयोग कर रहे थे। किंतु शिल्प-कला के क्षेत्र में सिंधु प्रदेश अन्य तत्कालीन देशों से पिछड़ गया। ताम्र तथा पीतल का यहाँ प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता था किंतु लोहा नाममात्र ही के लिए उपलब्ध था।

इन सांस्कृतिक विभिन्नताओं तथा समानताओं का अनुभव उच्चवर्गीय लोगों को होता रहा होगा। जनसाधारण के लिए तो सिंधु प्रदेश का महत्त्व इसलिए था कि वह एक उपजाऊ तथा धन धान्य से परिपूर्ण भूमि-खंड है। इन्हीं दो कारणों से बाहरी लोग आकर्षित होते रहे। सिंधु प्रदेश, पंजाब तथा बलूचिस्तान में मजूमदार ने स्थान-स्थान पर ऐसे भग्नावशेष देखे जहाँ पर कि प्रागैतिहासिक युग में व्यापारी या काफिले टिका करते थे। मोहें-जो-दड़ो में प्रवेश के लिए बाहर से कई मार्ग थे। सिंधु प्रदेश के दक्षिण भाग को मिलानेवाली सड़क, मकरान और लासबेला रियासत से होकर जाती थी। आठवीं सदी में मुहम्मद क़ासिम इसी मार्ग से भारत आया था। बलूचिस्तान की ओर से दो मार्ग थे। पहिला मार्ग मुल्लादर्रे से जोही होते हुए मन्छर सरोवर के निकट आता था और दूसरा लक, गर्री, लक फूसी, लक रोहेल, पंडीवाही तथा टंडो रहीम खान होते हुए सिंधु प्रदेश में पहुँचता था। ऊपर की ओर खैबर का दर्रा था जिस द्वार से कि ऐतिहासिक युग में भी

भारत पर कई धावे हुए थे। बोलन दर्रे से भी कुछ लोग आते रहे होंगे। इनके अतिरिक्त कुर्रम, गुमाल तथा टोछी की घाटियों से भी कुछ लोग सिंधु प्रदेश में प्रवेश करते थे।

सिंधु प्रदेश, इलम तथा सुमेर की अनेक वस्तुओं में समानताएँ हैं और अनुमान है कि प्रागैतिहासिक युग में बलूचिस्तान होते हुए इन देशों के बीच व्यापार चलता था। इलम तथा सुमेर में सिंधु-सभ्यता के अंतर्गत बनी कई मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। इन दोनों देशों की खुदाइयों में जिन तहों पर ये मुद्राएँ पाई गई उनका काल ई० पू० २८०० माना गया है। अर्द्धवृत्ताकार वस्तुएँ जो मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त मालाओं की लड़ियों के अंत में लगती थीं, इलम में भी मिली हैं। केश-विन्यास, श्रृंगार तथा हजामत करने के ढंगों में भी इन दोनों देशों में समानता पाई जाती है। हड़प्पा में प्राप्त नमूने की कुछ कटारें सुमेर में भी मिली हैं। मेसोपोटामिया तथा सिंधु-सभ्यता में भी घनिष्ठ संबंध था। गुरियों पर श्वेत अंकन की शैली इन दोनों देशों के लोगों को ज्ञात थी, किंतु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस कला का जन्म किस देश में हुआ था। हड़प्पा से प्राप्त कुछ श्रृंगार तथा शल्य-शास्त्र संबंधी वस्तुएँ (गुच्छे) उर, किश तथा काफेजी में प्राप्त नमूनों के ही समान हैं। मोहें-जो-दड़ो के कुछ चूल्हे मेसोपोटामिया में प्रचलित उदाहरणों की शैली पर बने थे। ऐसी ही समानता दंतक मेहराब, गोल कूप तथा मिट्टी या पत्थर की बनी जालीदार वस्तुओं में भी दीख पड़ती है। टेल आज़मर में एक अति महत्त्वपूर्ण मुद्रा मिली है। इस मुद्रा में अंकित हाथी के कान, पैर, चमड़े की परत तथा नीलगाय मोहें-जो-दड़ो की एक मुद्रा पर अंकित हाथी की प्रतिलिपि सी जान पड़ती है। मोहें-जो-दड़ो में ठप्पे लगाने की एक मुद्रा की पीठ पर जुड़े दाने के ऊपर कई वृत्त चित्रित हैं। इस शैली की मुद्राएँ केवल मेसोपोटामिया में ही अभी तक देखने को मिली हैं। अंकित कार्निलियन की कुछ गुरियाएँ जो सुमेर में भी थीं मोहें-जो-दड़ो की खुदाइयों में निकली हैं। पिछले अध्याय में हमने हाथ से बने भेंड़े की आकृति के एक मृत्पात्र का उल्लेख किया है। इस शैली का दूसरा उदाहरण अभी तक सिंधु-सभ्यता के किसी नगर में नहीं मिला है यद्यपि ऐसी वस्तुएँ क्रीट, मिश्र, ईलम, सुमेर तथा अनातोलिया के निवासियों को भली भाँति ज्ञात थीं।[1]

मोहें-जो-दड़ो की मुद्राओं पर सुमेर देश की दंत कथाओं में 'वर्णित गिलमेश' नामक वीर पुरुष का भी चित्रण है। कुछ मुद्राओं पर अंकित दृश्यों में सींगधारी नग्न मनुष्य बाघ के साथ लड़ता दीख पड़ता है। इन मुद्राओं का निर्माण तो सिंधुप्रदेश में हुआ किंतु विषय निस्संदेह सुमेर की कथाओं से लिए गये हैं।[2]

मोहें-जो-दड़ो, मेसोपोटामिया तथा टेल आज़मर के शौचगृहों की बनावट में भी समानताएँ हैं। इन कमरों में एक सा ही फ़र्श है। कोने पर एक ऊँची चौकी थी। इसके नीचे नाली बहती थी। अंतर केवल इतना ही है कि मेसोपोटामिया में पानी फ़र्श के नीचे की नाली द्वारा एक मेहराब से बाहर निकल जाता था। मोहें-जो-दड़ो के शौचगृहों में नाली खुली रहती थी। टेल आज़मर के समान मोहें-जो-दड़ो में भी कुछ मिट्टी के नल मिले हैं। छेद सहित एक गैंती मोहें-जो-दड़ो में मिली है। सिंधु-सभ्यता के प्रमुख स्थलों से कई प्रकार के हथियार प्राप्त हुए हैं किंतु इनमें छेदों का अभाव है। यह गैंती भी बाहर से ही आई जान पड़ती है।

सुमेर-सभ्यता से संपर्क का दूसरा प्रमाण मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त एक हलके हरे रङ्ग का साबुन पत्थर में बना खंडित मृत्पात्र है। इसके ऊपर चटाई के रेशों जैसी बुनाई का अलंकरण

[1] मैके, फ० य० मो०, जि० १, पृ० ६४ [2] इं० ए०, दिसंबर १९३१, पृ० २६५

जो कि सुमेर के बर्तनों की एक विशेषता थी दीख पड़ता है। इस ढंग के मृत्पात्र टेल आज़मर, सूसा तथा किश में भी मिले हैं। अलऊबेद में भी कुछ ऐसे बर्तन मिले हैं जो कि सिंधु प्रदेश की ही शैली में बने थे। भिन्न-भिन्न प्रकार के ठोस पत्थरों की गुरियों के ऊपर सोने की टोपी चढ़ाने की प्रथा सुमेर, मोहें-जो-दड़ो तथा उर तीनों देशों में प्रचलित थी। इस शैली की सबसे अधिक गुरियाएँ मोहें-जो-दड़ो में ही प्राप्त हुई हैं और अनुमान किया जाता है कि इस शैली का जन्म सिंधु प्रदेश में ही हुआ था। यहीं से ये गुरियाँ अन्य देशों को भी भेजी जाती रही होंगी। मेसोपोटामिया की क़ब्रों तथा अन्य स्थानों से निकली गुरियों की तरह कई उदाहरण मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में भी प्राप्त हुए हैं।[१]

फ्रैंकफोर्ट को टेल आज़मर में कुछ ऐसे बर्तन मिले, जिनकी बाहरी सतह पर उठे हुए गोल दाने बने हैं। इस शैली का कोई बर्तन अभी तक मेसोपोटामिया में नहीं दीख पड़ा। मोहें-जो-दड़ो के कलाकार इस शैली से पूर्णतया विज्ञ थे और टेल आज़मर में प्राप्त ऐसे बर्तन निस्संदेह सिंधु प्रदेश की ही देन हैं। तीनपत्तिया शैली के अलंकरण का उल्लेख पहले हो चुका है। यह शैली मेसोपोटामिया, यूनान, सुमेर तथा बलूचिस्तान के निवासियों को भी ज्ञात थी। इसका उत्पत्ति स्थान संभवतः मेसोपोटामिया ही था। खाकुन पत्थर पर अंकित एक कर्ण आभूषण को दयाराम साहनी ने हड़प्पा से प्राप्त किया था। इस पर चौड़े पैर किये गरुड़ पक्षी का चित्रण है। ठीक ऐसा ही एक पक्षी बलूचिस्तान के एक मृत्पात्र पर भी चित्रित है। इस पक्षी का विशद चित्रण इलम तथा सुमेर में हुआ है। कदाचित यह परम्परा फारस की ऊँची पहाड़ियों के क्षेत्र से निकलकर सुमेर तथा सिंधु प्रदेश में पहुँची हो।

मिश्र देश से सिंधु-सभ्यता का विशेष संबंध नहीं दीख पड़ता किंतु दोनों देशों की वस्तुओं में कई एक समान प्रतीक प्रयोग किये गये हैं। जुड़वाँ गुरियाँ (सेगमेंटेड बीड्स) तथा कंठहारों के गुम्बदनुमा अंतक सुमेर, मिश्र तथा सिंधु प्रदेश में मिले हैं। बैलों के पैरोंवाली कुर्सियाँ भी मिश्र तथा सिंधु-सभ्यता के लोगों को ज्ञात थीं।[२] फिर इन तीनों देशों में पलंग का काम देनेवाले मिट्टी के खिलौनों के रूप में तख्त भी मिले हैं। मोहें-जो-दड़ो में मिश्र शैली की एक खंडित मूर्ति भी मिली है। मूर्ति में दाढ़ी पहिने एक व्यक्ति दाएँ पैर को झुकाए तथा बाएँ घुटने को भूमि पर स्थिर किये बैठा अंकित है। मोहें-जो-दड़ो की यह मूर्ति तो मिश्र देश के ऐसे ही अन्य उदाहरण की प्रतिकृति मालूम देती है। चारों ओर से कोणों में कटी हुई गुरियाँ भी मिश्र तथा सिंधु प्रदेश के लोगों को ज्ञात थीं। मिश्र देश के कलाकारों ने ऐसी गुरियों के बनाने में विशेषता प्राप्त कर ली थी।

मिश्र देश तथा सिंधु-सभ्यता के लोगों के धार्मिक मतों में भी समानताएँ जान पड़ती हैं। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर चित्रित दृश्य में एक लंब के आगे कुछ पशुओं की मूर्तियाँ ले जाई रही हैं। ऐसे ही लंब मिश्री जुलूसों में फैरोह के आगे भी दीख पड़ते हैं। मोहें-जो-दड़ो में दो ताँबे की पट्टियों पर तार या धागों का जो अलंकरण है वह मिश्र देश के तेरहवें वंश की मुद्राओं पर चित्रित है। मक्खी की आकृति की एक गुरिया हड़प्पा में मिली है। ऐसी गुरियाँ उर तथा किश की क़ब्रों में पाई गई थीं। मिश्र में ऐसी गुरियाएँ बारहवें वंश के समय विशेष रूप से प्रचलित थीं।

सिंधु प्रदेश तथा सुमेर के निवासी सिर पर नारों को भी बाँधते थे। ये नारे प्रायः सोने या चाँदी

---

[१] मैके, फ़० ए० मो०, जि० १, पृ० ३६३ [२] मैके फ़० ए० मो०, जि० १, पृ० ६४१

की पतली पट्टियों के बनते थे, किंतु कुछ उदाहरणों में बुने तारे भी दीख पड़ते हैं। सुमेर की तरह मोहें-जो-दड़ो निवासी भी मूँछें साफ रखते थे। भिन्न-भिन्न पशुओं के अवयवों से बनी आकृतियाँ सुमेर, बेबीलोन तथा सिंधु प्रदेश की मुद्राओं में प्रत्यक्ष हैं। बेबीलोन तथा सुमेर के बैलों को प्रायः लंबी दाढ़ी पहनायी गयी है। मोहें-जो-दड़ो में भेड़ के सिरोंवाली आकृतियाँ अधिकतर दाढ़ी धारण किये हुए हैं। संभव है दाढ़ी संबंधी विश्वासों का स्रोत एक ही था। भैंस तथा नीलगाय के सींगों का महत्व भी कई देशों में प्रचलित था। इन देशों के बीच यह पारस्परिक संबंध किस प्रकार स्थापित हुआ यह बतलाना कठिन है। सिंधु-प्रदेश में तो बाहरी देशों से लाई गई थोड़ी सी ही वस्तुएँ मिली हैं। इसलिए इस दिशा में व्यापार की तो कोई संभावना नहीं दीख पड़ती। यह माना जा सकता है कि किसी मध्यस्थ देश या व्यापारिक केन्द्र के द्वारा एक दूसरे देश में विभिन्न तत्वों का प्रसारण हुआ हो। यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि बहुत सी परम्पराओं का जन्म फरात तथा नील नदी के बीच स्थित किसी अज्ञात स्थान में हुआ था।

इलम तथा सुमेर की तरह मोहें-जो-दड़ो की मुद्राओं पर भी यूनानी क्रूश चित्रित किया गया है। क्रूश के मध्य में एक दूसरे को काटती रेखाएँ अंकित हैं। क्रूश का दोहरा अंकन यूनान में प्रायः देखने में आया है। संभव है सिंधु प्रदेश में चित्रित क्रूश का संबंध तारों से रहा हो। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त एक दूसरी मुद्रा पर नाव का अंकन है। इसमें एक ऊँची चौकी पर पतवार लिए नाविक बैठा है। ठीक इसी शैली के नाविकों के चित्र सुमेर तथा सूसा की मुद्राओं पर भी दीख पड़ते हैं।

फाब्री के विचार से यूनान तथा सिंधु-सभ्यता के लोगों के बीच कुछ धार्मिक पद्धतियाँ प्रचलित थीं।[1] क्रीट के कतिपय भित्तिचित्रों में बैलों की लड़ाई के कुछ दृश्य चित्रित हैं। इन द्वंदों का नाम 'तौरकथपशिया' था। इन दृश्यों में मनुष्य, कभी बैलों को पकड़ते और कभी उनके ऊपर से कूदते दिखलाये गये हैं। मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर भी ऐसा ही दृश्य मिलता है। इन खेलों का संबंध मातृदेवी के सम्प्रदाय से था। यद्यपि सिंधु प्रदेश में मातृदेवी की विशद पूजा थी, फिर भी कहा जा सकता है कि 'तौरकथपशिया' के इस अनूठे चित्रण की शैली यहाँ क्रीट से ही आई होगी। प्राचीन काल में क्रीट सातों समुद्रों में व्यापार करता था। संभव है कुछ व्यापारी मुद्राओं को सिंधु प्रदेश के बंदरगाहों तक ले आये हों।

पशुओं को एक पंक्ति में चित्रित करने की शैली जो कि फारस, सूसा तथा मेसोपोटामिया के लोगों को ज्ञात थी, मोहें-जो-दड़ो के ताबीज़ों पर दीख पड़ती है।

सिंधु प्रदेश, इलम तथा सुमेर के पारस्परिक संबंध पर नाल की खुदाइयों से यथेष्ट प्रकाश पड़ा है। नाल की ऊपरी तहों पर तो हड़प्पा तथा मोहें-जो-दड़ो शैली के बर्तन मिले, किंतु नीचे की सतहों पर बलूचिस्तान शैली के बर्तन थे। बलूचिस्तान से सिंधु-सभ्यता का विशेष सम्पर्क था। आरियल स्टीन ने १९२७-२८ में जो खुदाइयाँ की थीं उनसे ज्ञात हुआ है कि बलूचिस्तान की पहाड़ियों के मूल पर सिंधु नदी की ओर किसी काल में अच्छी बस्तियाँ थीं। सिंधु-सभ्यता का संबंध विशेषतया बलूचिस्तान के पूर्वी तथा दक्षिणी भाग और ईरान से था। डाबरकोट, सूरजंगल, पेरियानो घुंडई, कुल्ली तथा मेहीडम्ब आदि स्थानों से प्राप्त वस्तुओं में यह प्रभाव स्पष्ट है। ये सभी व्यापारिक केन्द्र थे जहाँ कि एक दूसरे स्थान से आवागमन होता था। एक दूसरे वृत्तों को काटने की अलंकरण शैली, जो सिंधु-सभ्यता के बर्तनों में बहुत दीख

[1] आ० स० रि०, १९३४-५, पृ० ९३-१००

पड़ती है, बलूचिस्तान में भी पहुँची थी। मोहें-जो-दड़ो शैली के छिद्रोंवाले कई बर्तन, सुकराजेन डोर में मिले हैं। मेही में भी कई मृत्पात्र ऐसे मिले जिनकी शैली मोहें-जो-दड़ो की वस्तुओं के ही समान हैं। इनके अतिरिक्त मेही में सिंधु-सभ्यता से प्रभावित गाड़ियों के उदाहरण तथा कई भागों में विभाजित एक पत्थर का पात्र भी मिला है।

बलूचिस्तान में मोहें-जो-दड़ो की ही तरह मातृदेवी तथा बैल के खिलौने प्रचलित थे। मृत्पात्रों पर वृक्ष, पीपल तथा झुमकों का अलंकरण भी जो सिंधु-सभ्यता की वस्तुओं पर चित्रित है, बलूचिस्तान के बर्तनों पर अंकित दीख पड़ता है।

पाँच हज़ार वर्ष पूर्व बलूचिस्तान का रूप कुछ और ही था। आज बलूचिस्तान उजाड़ तथा वीरान देश हो गया है। प्राचीनकाल में यहाँ प्रचुर मात्रा में पानी बरसता था। इसी कारण कई स्थानों पर लोगों को गबरबंध बनाने की आवश्यकता भी पड़ी। मजूमदार तथा स्टीन ने उजाड़ उपनिवेशों की एक पूरी श्रृंखला सिंधु नदी के तट के समानांतर ढूँढ़ निकाली थी। इस समय सूर-जंगल के अतिरिक्त और किसी स्थल पर बस्ती के चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते। बलूचिस्तान के किसी भी केंद्र से मोहें-जो-दड़ो शैली की कोई मुद्रा अभी तक प्राप्त नहीं हुई है।

मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त एक मृत्पात्र बिल्कुल उर्क युग में निर्मित बर्त्तन की तरह है। ऐसे पात्र या तो जली काली या हल्की नीली मिट्टी के बनते थे। इन दोनों प्रकार की मिट्टियों का स्वतंत्र प्रयोग मोहें-जो-दड़ो के कुम्हारों ने किया है।

यह पहिले लिखा जा चुका है कि पश्चिम के साथ आवागमन जल तथा थल दोनों मार्गों से होता था। जल मार्ग के लिये नावें थीं। इसका चित्रण मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त एक मृत्पात्र पर मिला है। नावों का बड़े-बड़े समुद्रों में इनका चलना कठिन था, किंतु यह असंभव नहीं कि उस काल में भी मस्तूलदार जहाज़ भी चलते रहे हों। छोटी नावों का प्रयोग अधिकतर नदियों में ही होता रहा होगा। आज दिन भी सिंधी लोग अच्छे नाविक माने जाते हैं। उनके यहाँ की नावों में डुंडी, जुंपटिस तथा जोरुक मुख्य हैं।

सिंधु प्रदेश का बाहरी देशों के साथ अधिकतर व्यापार ग़ैर टिकाऊ वस्तुओं में होता था। यह निश्चित है कि ई० पू० दो हज़ार तीन सौ के लगभग मेसोपोटामिया में सिंधु प्रदेश से कुछ मृत्पात्र, मुद्राएँ तथा खोसने की वस्तुएँ पहुँची थीं। किंतु यह ध्यान में रखते हुए कि मोहें-जो-दड़ो नगर की नौ बार स्थापना हुई यह व्यापार नहीं के बराबर रहा होगा।[1] सुमेर से भी थोड़ी ही वस्तुएँ सिंधु-प्रदेश में आई थीं। ई० पू० दो हज़ार तीन सौ तथा दो हज़ार के बीच की कुछ मुद्राएँ सुमेर की ऊपरी तहों पर मिली थीं। अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं की सुमेर में प्राप्ति होने के कारण कहा जा सकता है कि सिंधु-प्रदेश के कुछ सौदागर वहाँ जाकर बस गये थे। व्यापार की एक अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तु, सूती कपड़ा भी रहा होगा।[2] पारस्परिक राजनैतिक तथा सांस्कृतिक संबंधों के कारण कई छोटी वस्तुएँ अन्य देशों से सिंधु प्रदेश में आती जाती रही होंगी।

अरब इतिहासज्ञों के आगमन काल तक सिंधु-प्रदेश में अच्छे बंदरगाह थे। किंतु कहीं कहीं उनमें मिट्टी भी भरने लग गई थी। उनके मुहाने नष्ट होते जा रहे थे। देवाल, तथा तत्था एक समय सिंधु-प्रदेश के ख्यातिप्राप्त बंदरगाह थे। १८१२ में निकोलस विदिंगटन ने तत्था के विषय में लिखा था कि 'इंडीज़' में उसके बराबर कोई अन्य सुलभ बंदरगाह नहीं

[1] ह्वीलर, का०, वा, इ० वा० पृ० ३० [2] पिगट, प्री० इं०, पृ० २०८

है'। ढाई वर्ष बाद ट्रैवरनियर ने इसे उजाड़ दशा में देखा। ऐतिहासिक युग में अरब के तट पर ऐसे जहाज़ी थे जो कि इथोपिया, सिंधु तथा अन्य खाड़ियों में जाकर व्यापार करते थे।[1]

ई० पू० दो हज़ार के लगभग सिंधु प्रदेश तथा बाहरी देशों के व्यापारिक संबंध शिथिल दीख पड़ते हैं। इस युग में विदेशों तथा सिंधु प्रदेश में धावे होने प्रारंभ हुए। सिंधु प्रदेश तथा पंजाब के कई नगर या तो इन धावों या नदी की बाढ़ों के कारण समाप्त हो गये। अंदर की ओर कुछ घाटियों या सुरक्षित स्थानों में छोटे-छोटे उपनिवेश भाग्यवशात् इन प्रभावों से अछूते रहे। इस उथल-पुथल की छाया आज भी कई स्थानों पर बिखरे खंडित मृत्पात्रों में मिलती हैं। मनुष्यों का रक्त सूख गया, कंकाल मात्र रह गये, विशाल भवन ढह गये तथा मूल्यवान् वस्तुएँ लुटेरों ने इधर-उधर कर दीं। सुलभता से प्राप्त होनेवाली मिट्टी के इन सस्ते मृत्पात्रों का लोगों के लिए महत्त्व नहीं था। वे भगदड़ में इन्हें छोड़ गये। इस महान् सभ्यता की मूक कहानी आज हमें इन्हीं मृत्पात्रों से मिलती है। रन घुंडई के मृत्पात्रों से स्पष्ट है कि ई० पू० दो हज़ार के लगभग इस स्थान को लूटा गया था। इससे मृत्कला की एक शृंखला टूटी। हड़प्पा में 'यच' क्षेत्र की क़ब्रों में मिले कंकालों से ज्ञात होता है कि सिंधु-सभ्यता की समाप्ति के बाद बाहर से कुछ अन्य जातियाँ वहाँ आकर बस गई थीं और उनके द्वारा सिंधु-सभ्यता की परंपरा समूल नष्ट हुई।

---

[1] रालिंसन, इं० वे० व०, पृ० ३

उपसंहार

रूपड़

हड़प्पा से २२० मील पूर्व सतलज नदी के तट पर रूपड़ नामक स्थान है। यहाँ से एक मील पूर्व कोटला निहंग नामक ढीह है। ढीह पर कोटला निहंग तथा तापड़ी नामक दो गाँव बसे हैं। रूपड़ में सर्वप्रथम खुदाई श्री माधवस्वरूप वत्स ने की थी। उन्होंने चार क्षेत्रों में ७ फ़ीट गहरे गड्ढे खोदे। इनमें भवनों के तो कोई अवशेष नहीं दीख पड़े किंतु हड़प्पा शैली की बहुत-सी वस्तुएँ मिलीं। उस समय वहाँ चकमक पत्थर या मुद्रा जैसी कोई वस्तु दृष्टि में नहीं आई।

पिछले तीन वर्षों से रूपड़ की ओर फिर पुरातत्त्व-विभाग का ध्यान आकर्षित हुआ है। खुदाइयों से गत दो वर्षों में बहुत महत्त्वपूर्ण सामग्री मिली है। सिंधु-सभ्यता की समाप्ति के बाद से लेकर मध्यकाल तक के बीच की शृङ्खलाओं को जोड़ने में रूपड़ की सामग्री से बहुत सहायता मिली है। खुदाई में सबसे नीचे की तह पर, जिसका काल ५०० वर्ष के लगभग है, मोहें-जो-दड़ो तथा हड़प्पा के ढङ्ग की वस्तुएँ, जैसे मनके, पीतल के हथियार, चकमक पत्थर के चाकू तथा एक लेख सहित मुद्रा प्राप्त हुई। ऐसा लगता है कि कुछ समय के लिए यह स्थान छोड़ दिया गया था। ई० पू० १००० के लगभग एक नई परंपरा तथा जाति के लोग फिर यहाँ पर आकर बसे। ये लोग पूर्वी उत्तर-प्रदेश, उत्तरी राजस्थान, तथा पंजाब में व्याप्त स्लेटी रंग (ग्रे वेयर) के बर्त्तनों का प्रयोग करते थे। ३०० वर्ष बाद यह जाति भी रूपड़ से उठ गई। ई० पू० पाँचवीं सदी के मध्य में फिर एक नवीन चरण प्रारंभ हुआ। इस युग के बहुत से सिक्के, मुद्राएँ तथा मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें हाथीदाँत में अंकित मुद्रा जिस पर मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में "भदपलस" लिखा है, उल्लेखनीय है।

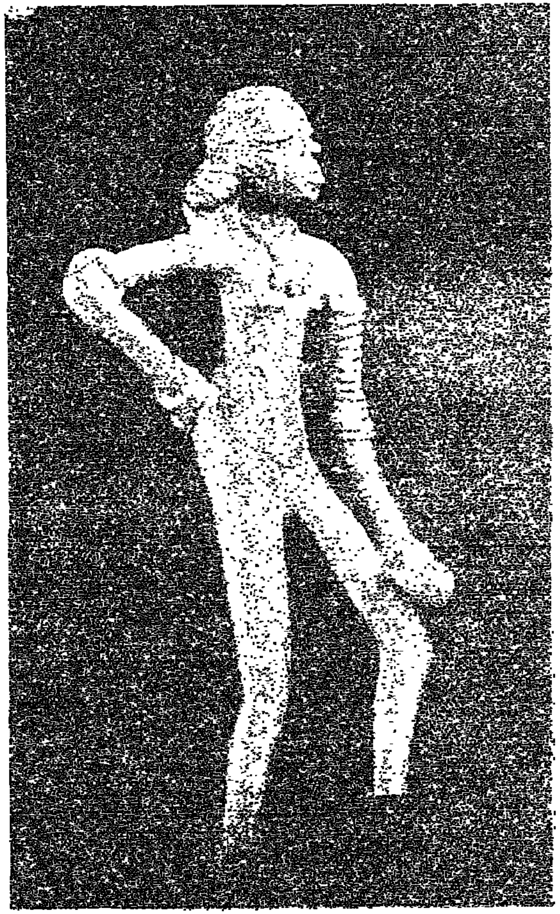
ई० पू० दूसरी से लेकर छठी सदी ईस्वी तक भी रूपड़ में बस्ती रही। इस तह में भारतीय-यूनानी (इंडो-ग्रीक) राजाओं से लेकर चंद्रगुप्त प्रथम तक के सिक्के प्राप्त हुए। इसी तह में ६०० कुषाणकालीन सिक्कों का एक ढेर भी मिला था।

मध्यकाल में रूपड़ में मुसलमानी आधिपत्य रहा। इसके प्रमाण में ऊपरी तह से निकले चमकीली पालिश लिए बर्त्तन तथा सिक्के हैं। रूपड़ की खुदाइयों में मकानों के थोड़े से ही अवशेष मिले हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि सबसे नीचे की तह से बराबर पक्की ईंटों का प्रयोग हुआ है। रूपड़ ही एक ऐसा स्थल है जहाँ पर कि प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक युग की सामग्री क्रमिक ढङ्ग से प्राप्त हुई है।[1] कौन कह सकता है कि आगे चलकर रूपड़ मोहें-जो-दड़ो के अंतिम वर्षों तथा मौर्यकाल के बीच के लंबे व्यवधान की पूर्ति करनेवाली महत्त्वपूर्ण सामग्री न प्रस्तुत करे।

---

[1] इंडियन आर्कियालाजी—१९५३-५४

चित्र-सूची



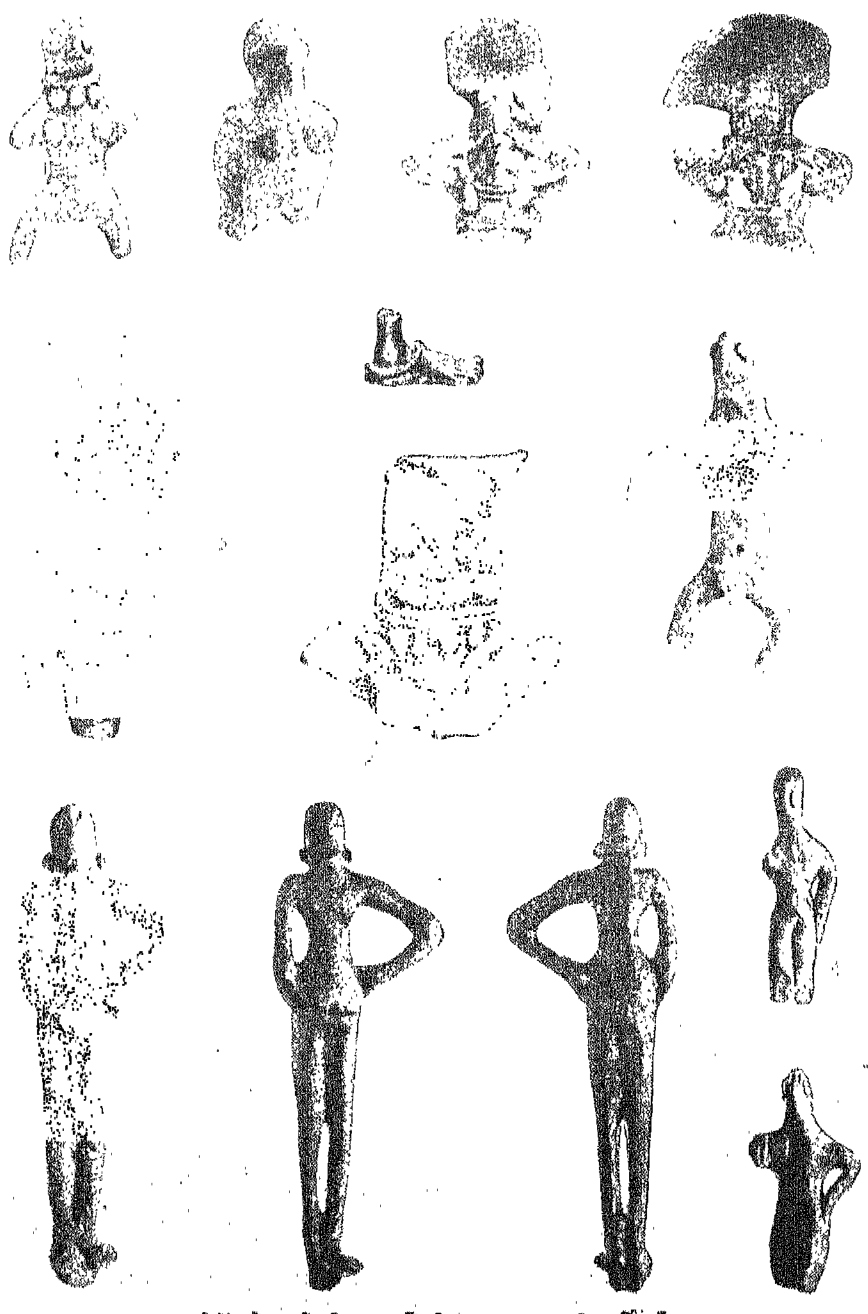
मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त धातु की एक नर्त्तकी



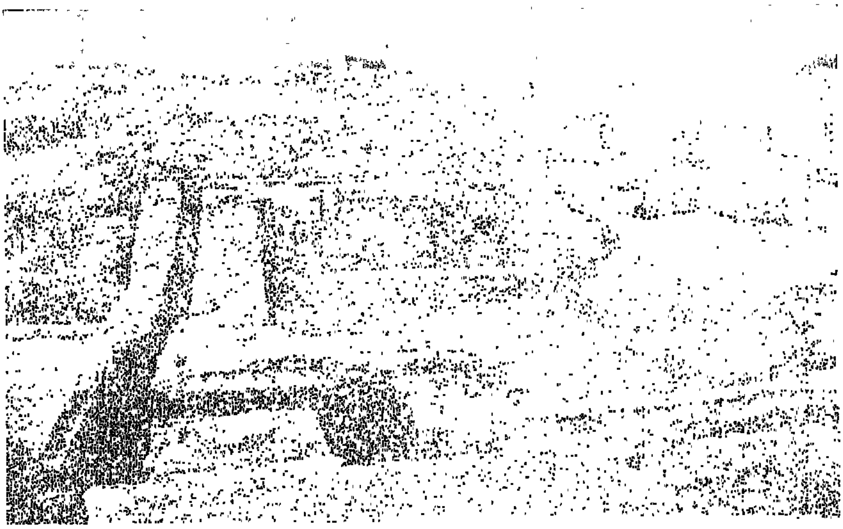
मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त योगी की मूर्ति



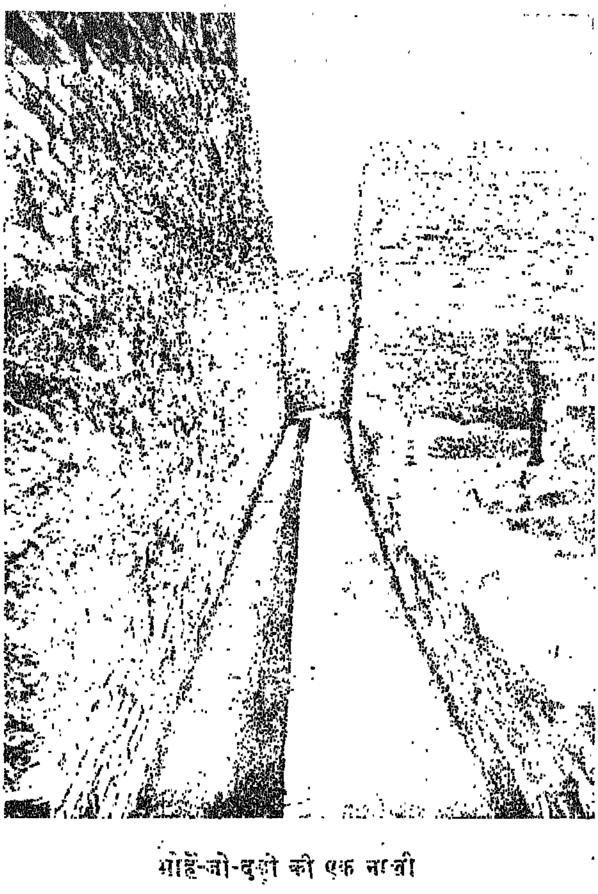
हड़प्पा से प्राप्त पत्थर का धड़



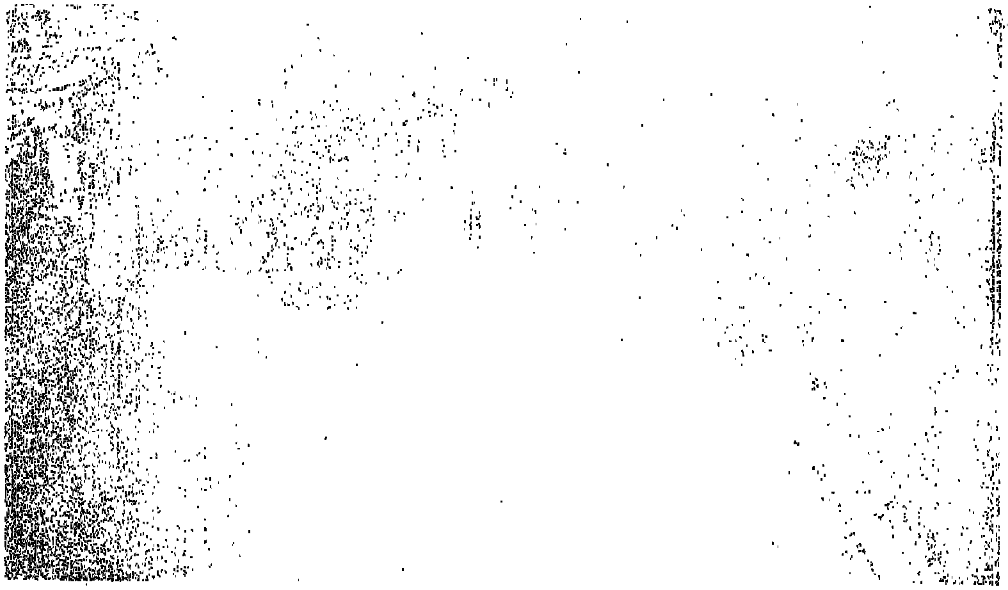
मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त मिट्टी तथा धातु की मूर्तियाँ



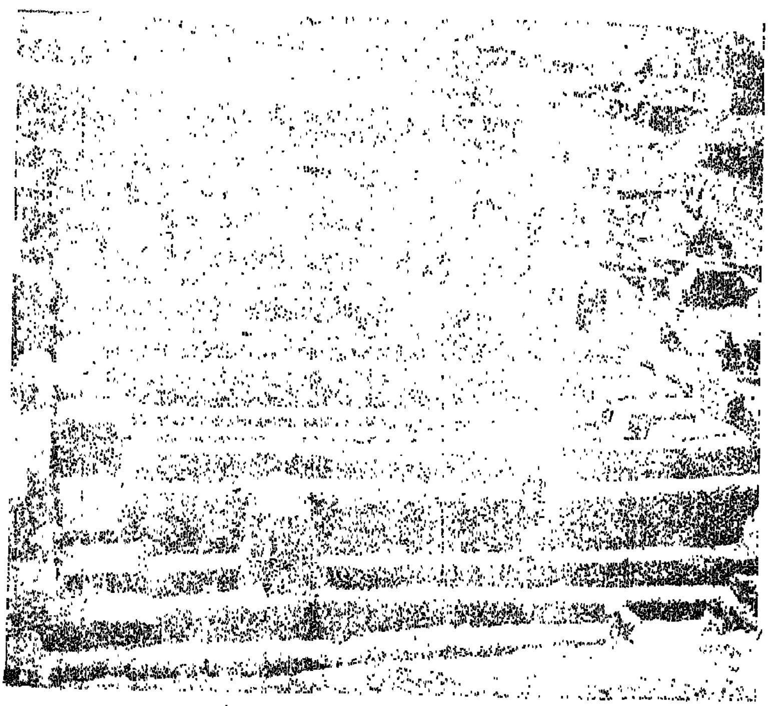
मोहें-जो-दड़ो का स्नानागार



मोहें-जो-दड़ो की एक नाली



मोहें-जो-दड़ो का एक प्रमुख मार्ग



मोहें-जो-दड़ो की खुदाई का एक दृश्य



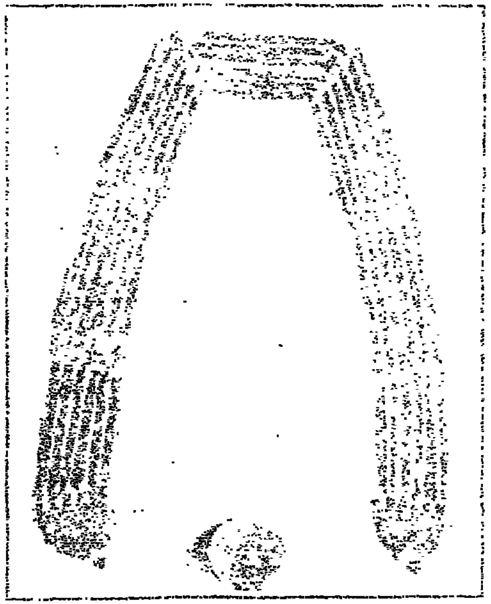
हड़प्पा के क़िले की एक दीवार



मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त मुद्राएँ



चन्हूदड़ो से प्राप्त एक अलंकृत पात्र



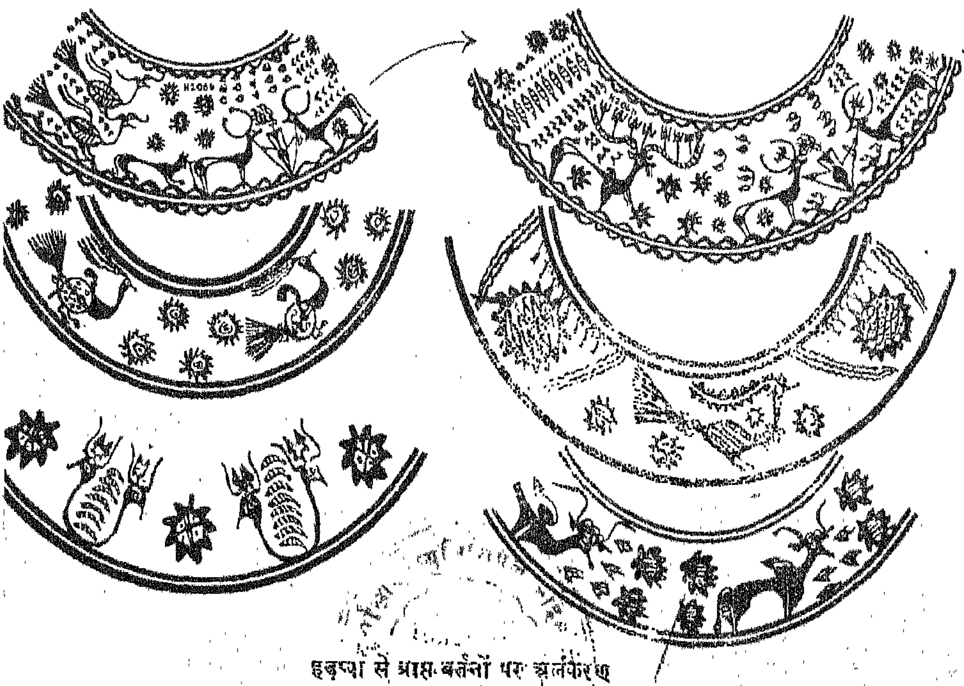


मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त आभूषण

[७]



अंतिम चरण में मृत व्यक्तियों के कंकाल (मोहें जो-दड़ो)



हड़प्पा से प्राप्त बर्तनों पर अलंकरण